भारतीय ग्रन्थमाला; संख्या ३१

नागरिक शास्त्र

[नागरिकों के अधिकारों और कर्तव्यों का विवेचन]

लेखक
'भारतीय शासन', 'देशी राज्य शासन', और
'मनुष्य जाति की प्रगति' आदि के
रचयिता

भगवानदास केला

प्रकाशक
भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, प्रयाग

प्रकाशक
गवानदास केला
भारतीय ग्रन्थमाला
दारागंज, प्रयाग

मुद्रक
हरिवंश नारायण दुबे
गंगा प्रेस, दारागंज,
प्रयाग

निवेदन

कोई देश उस समय तक न तो महान् राष्ट्र बन सकता है, और न दूसरे राष्ट्रों में अच्छा स्थान प्राप्त कर सकता है, जब तक उसके निवासी यह न जानलें कि उनके क्या-क्या अधिकार तथा कर्तव्य हैं। किसी राज्य की उन्नति और विकास के लिए आवश्यक है कि उसके नागरिक नागरिक-शास्त्र के सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझें और उनके अनुसार व्यवहार करें। प्रत्येक देश के युवक और युवतियाँ ही उसके वे नागरिक हैं, जिन पर उसके भविष्य का अच्छा या बुरा होना निर्भर होता है; उनके वास्ते इस विषय का ज्ञान बहुत आवश्यक और उपयोगी है।

इसी लिए हमने अब से तेईस वर्ष पहले—सन् १९२३ में—इस महान् विषय की एक पुस्तक लिखने का निश्चय किया था। उस समय हिन्दी में इस विषय का साहित्य बहुत ही कम था, जिन-जिन बातों का हम इस पुस्तक में विचार करना चाहते थे, उनके लिए हम समय-समय पर अंगरेजी की विविध पुस्तकें देखते रहे। सन् १९२७ ई० में हमने कुछ विद्वानों से इस विषय पर विचार करने के लिए एक साहित्यिक यात्रा भी की। उस अवसर पर हम सर्वश्री डाक्टर बेणी प्रसाद जी एम० ए० (प्रयाग विश्वविद्यालय), बाबूराव विष्णु पराड़कर (सम्पादक 'आज'), नरेन्द्रदेवजी एम० ए० (काशी विद्यापीठ), एस० वी० पुन्ताम्बेकर एम० ए० (हिन्दू विश्वविद्यालय), श्रीप्रकाशजी एम० ए०, एल-एल० बी० आदि कई ऐसे सज्जनों से मिले, जो इस विषय के जानकार हैं। इन्होंने हमें कई विचारणीय प्रश्नों पर अच्छा परामर्श दिया। इस सम्बन्ध में

प्रेम महाविद्यालय के आचार्य श्री० जुगलकिशोरजी एम० ए० तथा खंडवा में सुहृद्वर विनयमोहन जी शर्मा से भी हमें इस पुस्तक के कई-एक स्थलों पर विचार करने का सुअवसर मिला। श्री० विनयमोहनजी ने इस पुस्तक की विचार-पूर्ण भूमिका लिखने की भी कृपा की। पुस्तक तैयार करने के अलावा हमारे सामने इसे छपाने की भी समस्या थी; कारण, हमारे परिमित साधन हमारी दूसरी पुस्तकों के लिए ही काफी नहीं थे। अन्त में, सन् १९३२ में श्री मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति, इन्दौर, ने इसे प्रकाशित कर दिया।

पुस्तक का अच्छा स्वागत हुआ। गवालियर राज्य ने इसके लेखक को २००) पुरस्कार दिया। पत्र पत्रिकाओं में इसकी प्रशंसात्मक समालोचना हुई। अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, और प्रयाग महिला विद्यापीठ तथा दूसरी कई शिक्षा-सस्थाओं ने इसे अपने पाठ्यक्रम में स्थान दिया। तो भी ऐसे साहित्य को पढ़ने की रुचि वाले पाठक उस समय कम ही थे। दस वर्ष में जाकर पहला संस्करण समाप्त हुआ।

सन् १९४३ में हमने इस पुस्तक का संशोधन करके, दूसरा संस्करण छपाने के लिए समिति के पास भेज दिया था; और, मालूम होता था कि पुस्तक जल्दी ही छपजाने वाली है। परन्तु धीरे-धीरे समय निकलता गया, और पुस्तक सन् १९४३ में तो क्या, सन् १९४४ में भी नहीं छपी। समिति से पत्र व्यवहार होता रहा। आखिर, सन् १९४५ के अन्त में समिति ने हमें इस पुस्तक को प्रकाशित कर लेने की अनुमति प्रदान की। इस समय, खासकर हमारे जैसे साधारण स्थिति वालों के लिए कागज और प्रेस की कितनी कठिनाई है, यह सब जानते हैं। अस्तु; हमने इस पुस्तक को जल्दी-से-जल्दी छपाने की भरसक कोशिश की। जैसी-कुछ बन आयी, चार महीनों के भीतर यह पाठकों के सामने उपस्थित की जा रही है।

सहायक पुस्तकें
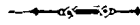
प्रो०	एफ० आर० वर्टग	'सिटिजनशिप'
,,	एच० जे० लस्की	'ग्रामर-आफ-पालिटिक्स'
,,	मेजिनी	'ड्यूटीज आफ मेन'
,,	जे० एस० ले	'सिटीजनशिप'
,,	आर० के० मुकर्जी	'सीविक्स'
,,	ब्राइस	'माडर्न डेमीक्रेसी'

,,	गुलाबराय	कर्तव्य-शास्त्र
,,	सत्यमूर्ति	प्रजा के अधिकार
,,	मातासेवक पाठक	राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त
,,	सत्यदेव	मनुष्य के अधिकार
,,	सुखसम्पत्तिराय भंडारी	राजनीति विज्ञान
,,	गोरखनाथ चौबे	नागरिक शास्त्र का विवेचन
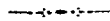
भूमिका

नागरिक-शास्त्र, समाज-विज्ञान का विकसित राजनीतिक अंग
कहा जा सकता है। समय-प्रवाह में सभ्यता का रूप ज्यों-ज्यों निखरता
गया, मनुष्यों की अधिकार-प्यास भी जागृत होती गई। देशकाल के
अनुसार इस 'प्यास' में भिन्न-भिन्न उद्देश्यों की अभिप्राप्ति की आकांक्षा
रहता आया है। प्राचीन भारतीय समाज की नागरिकता का उद्देश्य
'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष' में निहित था, और इस उद्देश्य की पूर्ति
के लिए तत्कालीन नागरिकों को 'आश्रम-धर्म' पालन करना पड़ता
था। समाज-परिधि की अभिवृद्धि के साथ-साथ 'नागरिक'-धर्म भी

कोई पृथक् सत्ता न होती थी। धीरे-धीरे पिता की संतति घरों के रूप में बढ़ी, उसके साथ पिता का आधिपत्य-अधिकार भी बढ़ा। क्रमशः घरों की संख्या बढ़कर 'जाति' (ट्राइब') में परिणत हुई। तब धर्म आदि कार्यों में प्रत्येक घर का प्रतिनिधित्व होने लगा, और अन्त में 'जातियाँ' राज्य में परिणत होगई'।"

पाश्चात्य कल्पना के अनुसार राज्य के आवश्यक अंग हैं—(१) भूमि (२) जनता, (३) एकता और (४) संगठन। हमारे यहाँ (हिन्दू शास्त्रों में) राज्य के सात अंग माने गये हैं, वे हैं—(१) स्वामी, (२) अमात्य, (३) कोष (४) दुर्ग, (५) राष्ट्र, (६) बल, और (७) मित्र। ये सात अंग उपर्युक्त चार में सम्मिलित किये जा सकते हैं। राज्य अपने इन अंगों द्वारा राष्ट्र या राष्ट्र-समूहों की अभ्युन्नति करता है। उसका मुख्य कार्य समाज की बाहरी-भीतरी आपत्ति-रक्षा के लिए युद्ध, तथा न्याय करना है।

अब देखना है कि राज्य-संचालन किस प्रकार होता रहा है? जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आरम्भ में एक मनुष्य (पिता) के द्वारा राज्य का संचालन हुआ और वह राजा कहलाया। जब सदियों तक राजा द्वारा ही राज्य का संचालन होता रहा तो जनता में राजा की व्युत्पत्ति पर भ्रम होने लगा। तरह तरह के सिद्धांत चल पड़े। कोई कहने लगा 'राजा' ईश्वर-निर्मित है, तो कोई जनता या समाज को इसके लिए उत्तरदायी मानने लगा। हमारे यहाँ मनु और व्यास महाराज ने भी 'राजा' का पद ईश्वर-निर्मित माना है। पर योरप में हाब्स, रूसो, लॉक आदि लेखकों ने उसे 'जनता की सृष्टि' कहा है भारतवर्ष में भीष्म और कौटिल्य ने भी यही बात कही है। समय-समय पर राज्य-संचालन-शक्ति, अर्थात् सरकार में परिवर्तन या संशोधन का क्रम चलता आया है, और प्रत्येक नये रूप का नाम-करण उसकी नीति एवं क्रिया-कलापों को देखकर स्थिर किया जाता रहा है। आजकल भिन्न-भिन्न सरकारों का वर्गीकरण इस प्रकार किया

जाता है—(१) राजसत्तात्मक और प्रजा-तन्त्रात्मक, (२) 'फ़ेडरल' और 'यूनीटरी' (३) 'पार्लिमेंटरी' और 'प्रेजीडेंशल'।

जो व्यक्ति जिस राज्य में बसता है वह उसका जन्म से या कानून से, नागरिक' माना जाता है; और, नागरिकों के अधिकारों की व्यवस्था राज्य की संचालन शक्ति—सरकार—पर निर्भर है। तथापि आधुनिक युग की विचार-धारा नागरिकों को अत्यधिक स्वतंत्रता देने के पक्ष में है। यहाँ 'स्वतन्त्रता' का अर्थ मनमाने कार्य करने देना नहीं है। कोई भी विकसित राज्य समाज के किसी अंग या अंग-समूह को हानि पहुँचानेवाले व्यक्ति को 'अ-दण्डित' नहीं छोड़ सकता।

स्वाधीनता खासकर तीन प्रकार की होती है—(१) 'सिविल': जो एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से, तथा समाज एवं सरकार से सम्बन्ध स्थापित कराती है; (२) राजनीतिक स्वाधीनता; जो नागरिक को अपने देश की राजनीतिक व्यवस्था में भाग लेने का यथेष्ट अधिकार देती है, जैसे मताधिकार, केन्द्रीय शासन का व्यवस्थापिका सभा के प्रति जिम्मेदार होने का अधिकार, नागरिकता के मूल अधिकारों की घोषणा आदि; (३) राष्ट्रीय स्वाधीनता: इस का अर्थ राष्ट्र को पर-राष्ट्र की अधीनता से सर्वथा मुक्त कर देना है। नागरिक जीवन की सम्पूर्ण एवं पूर्ण अभ्युन्नति के लिए इस प्रकार की स्वाधीनता अत्यावश्यक है।

हम जब स्वाधीनता की चर्चा कर रहे हैं तब नागरिकों के अधिकारों को ही अपने सम्मुख रख रहे हैं। अधिकारों की प्राप्ति और उनके उपभोग के लिए ही स्वाधीनता की पुकार मचाई जाती है। अधिकार दो प्रकार के होते हैं; नैसर्गिक और कानून-प्राप्त। नैसर्गिक या नैतिक अधिकार बहुत समय तक प्रचलित रहते-रहते लोकाचार के बल पर कानूनी अधिकार भी बन जाते हैं। कानूनी अधिकारों की प्राप्ति या तो व्यवस्थापिका सभा द्वारा होती है, या शासन-विधान द्वारा। परन्तु शासन-विधान का निर्माण बिना आन्दोलन किये नहीं होता। इंग्लैंड की जनता ने अपने राजा जान से 'मेग्ना कार्टा' नामक

अधिकार-पत्र हंसते-खेलते उपलब्ध नहीं किया; उसे उस समय 'राज्य' के सुख की उपेक्षा कर आन्दोलन करना ही पड़ा था।

नागरिक को राज्य द्वारा घोषित नियमों (कानूनों) को सदा-सर्वदा पालन करना भी आवश्यक नहीं है। उसे नागरिक के नाते सरकार के कार्यों की, उसके अन्तर्निहित उद्देश्यों की, पर्यालोचना करने का अधिकार है। "राज्य-शक्ति अधिकारों को उत्पन्न नहीं करती, वह उन पर स्वीकृति की मोहर भर लगाती है।" परन्तु जो नियम समाज और राज्य के हित के लिए बनाया जाता है, उसका पालन करना नागरिक का धर्म हो जाता है।

\+ + + +

श्रीयुत भगवानदास जी केला अपनी साहित्य-सेवा के लिए सुप्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपने इस 'नागरिक-शास्त्र' ग्रन्थ में नागरिकता का पूर्ण और सीधी भाषा में विवेचन किया है। पुस्तक में प्रतिपादित विषय सप्रमाण हैं। इस समय जब हम अपने अधिकारों के वास्ते, 'युद्धं देहि' के लिए उतर पड़े हैं, हिन्दी भाषा में ऐसी पुस्तक की बहुत आवश्यकता थी। पुस्तक का विषय यद्यपि शुष्क है, तथापि लेखक ने उसे रोचक बनाने का प्रयत्न किया है। अन्त में हम लेखक को नागरिक-शास्त्र जैसे महत्व-पूर्ण विषय पर जनसाधारण तक के पहुँचने योग्य अच्छी पुस्तक लिखने के उपलक्ष्य में हृदय से बधाई देते हैं। प्रत्येक नागरिक को इस पुस्तक का यथेष्ट आदर करना चाहिए।

कांग्रेस नगर
नागपुर

विनयमोहन शर्म्मा
एम० ए०, एल-एल० बी०

विषय-सूची

तीसरा भाग

नागरिकों के कर्तव्य

परिशिष्ट

पहला भाग

विषय प्रवेश

पहला अध्याय

सामाजिक जीवन

"धन्य है वह व्यक्ति, जो अपनी समस्त शक्ति समाज को पूर्ण करने में लगा कर अपना महान कर्तव्य पालन करता है, और धन्य है वह समाज जो अपने प्रत्येक सदस्य को पूर्ण विकास का अवसर तथा अधिकार प्रदान करता है।"

मनुष्यों के मिलजुल कर रहने की आवश्यकता—हम लोग समाज में, ग्रामों या नगरों में, रहते हैं। हम जो कार्य करते हैं, उनमें से कुछ का तो सम्बन्ध केवल हम से ही होता है; परन्तु हमारे कितने ही कार्य ऐसे भी होते हैं, जिनका सम्बन्ध केवल हम से ही न होकर दूसरों से भी होता है। इस प्रकार हमारे जीवन के दो भाग किये जा सकते हैं; । वह कुछ अंश में व्यक्तिगत है, तो कुछ अंश में सामाजिक है। अच्छा; हम दूसरों से कुछ सम्बन्ध क्यों रखते हैं? और हां, हम समाज में रहते ही क्यों हैं?

जो लोग आरम्भ से ही समाज में रहते आते हैं, उन्हें प्रायः उनमें कोई विशेष लाभ मालूम नहीं होता। समाज की आवश्यकता का

यथार्थ अनुभव तभी हो सकता है, जब वे अचानक किसी घटना के कारण, समाज से वंचित हो जायँ। वास्तव में हम उस दुख की कल्पना भी नहीं कर सकते जो हमें उस दशा में हो, जब हमें अकेला रहना पड़े। पहली बात तो यही है कि यदि हम मिलजुल कर, समाज में, न रहें तो हमें अपना जीवन-निर्वाह करना बहुत कठिन हो जाय। हमें भूख-प्यास लगती है, उसे मिटाने के लिए भोजन चाहिए; हमें सर्दी गर्मी लगती है, उसे निवारण करने के लिए वस्त्र चाहिए; जंगली जानवरों से अपनी रक्षा करने के लिए हमें मकान आदि भी चाहिए। इस प्रकार हमें बहुत-सी वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इन्हें पैदा करना या इनका संग्रह करना अथवा तैयार करना अकेले दुकेले आदमी के वश का नहीं। यदि कोई आदमी अपनी आवश्यकताओं की सब वस्तुओं को स्वयं अपनी ही शक्ति और योग्यता से प्राप्त करना चाहे तो सम्भव है कि पूर्व इसके कि वह इसमें सफल हो, उसकी ऐहिक लीला ही पूरी हो जाय, उसे अपने जीवन से ही हाथ धोना पड़े। निदान, जीवन-संग्राम में एक दूसरे की सहायता, सहयोग और सहानुभूति की बहुत ज़रूरत होती है। इसलिए मनुष्य एक दूसरे के साथ मिलकर रहते हैं।

मनुष्यत्व का विकास—मिलजुल कर रहने से ही आदमियों में मनुष्यत्व का विकास होता है, उनका स्वभाव और गुण मनुष्यों के-से होते हैं; नहीं तो, जंगली हालत में रहने की दशा में वे पशु-पक्षियों का ही अनुकरण करने वाले हो जाँय; कारण कि मनुष्य में दूसरों का अनुकरण या नकल करने की प्रवृत्ति होती है। वह जैसी संगति में रहता है, जैसा देखता-सुनता है, वैसा ही व्यवहार करने लगता है। भिन्न-भिन्न देशों के निवासियों के रहन-सहन और आचार-व्यवहार के अन्तर का रहस्य यही है। अस्तु, मनुष्य को वास्तव में, व्यवहार में, मनुष्य बनने के लिए यह आवश्यक है कि वह मनुष्यों की बस्ती में रहे, जानवरों में न रहे। सैकड़ों ऐसे उदाहरण मिले

हैं कि जब किसी बालक को भेड़िया आदि उठा ले गया तो वह जानवरों की सी ही बोली बोलने लगा, यहाँ तक कि उसकी आकृति और शकल सूरत भी कुछ-कुछ पशुओं जैसी होगयी। इससे स्पष्ट है कि समाज में रहने से, हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होने के अतिरिक्त, हमें मनुष्यों का सा स्वभाव, भाषा, गुण और रहनसहन आदि भी प्राप्त होता है।

परिवार—मनुष्यों में मिलजुल कर रहने की प्रवृत्ति प्राकृतिक है। उन्हें एक दूसरे के साथ रहने के वास्ते पहला समूह—परिवार—अपने आप ही मिल जाता है; इसका संगठन नहीं करना पड़ता। जन्म लेने के समय से ही प्रत्येक व्यक्ति का अपने माता पिता से सम्बन्ध हो जाता है, और पीछे दूसरे आदमियों से सम्बन्ध बढ़ता जाता है। अन्य प्राणी तो थोड़े-थोड़े समय ही माता की शरण में रहकर अकेले रहने लायक हो जाते हैं, परन्तु मनुष्य के बच्चे को तो कई वर्ष तक दूसरों के आसरे रहने की आवश्यकता होती है। प्रत्येक मनुष्य यह सोच सकता है, कि यदि वह बचपन में माता पिता या दूसरे सम्बन्धियों की सहायता न पाता तो उसका जीवन अत्यन्त कष्टमय, और प्रायः असम्भव हो जाता! परिवार से हमें नाना प्रकार के सुख मिले हैं, उसने हमारा बड़ा उपकार हुआ है। हमें भी चाहिए कि बड़े होकर अपने माता पिता आदि की समुचित सेव-सुश्रुषा करें, उन्हें बुढ़ापे या बीमारी आदि में यथा सम्भव कष्ट न होने दें।

गाँव और नगर—मनुष्यों की आवश्यकताएँ इतनी अधिक हैं, कि एक-एक परिवार के आदमी अलग-अलग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते। उन्हें दूसरे परिवारों की सहायता की ज़रूरत होती है। इस प्रकार कुछ परिवारों को इकट्ठा पास में घर बनाकर रहने की आवश्यकता का अनुभव होता है। इससे ग्राम बनने

लगते हैं और पीछे ज्यों-ज्यों शिल्प और उद्योग आदि की वृद्धि होती जाती है, नगरों का विकास होने लगता है।

सामाजिक प्रवृत्ति—इन बातों से यह मालूम हो जाता है कि अपनी विविध भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्यों को आपस में मिलकर रहना जरूरी होता है। परन्तु इसके अतिरिक्त, और सम्भवतः इससे कहीं अधिक महत्व की बात यह है कि मनुष्यों की प्रकृति ही ऐसी है कि वे मिलजुल कर रहना चाहते हैं। थोड़ी-बहुत देर की बात तो अलग है, पर यदि किसी मनुष्य को एक-दो दिन भी अकेला रहना पड़े तो प्रायः उसका जी नहीं लगता। सुखी हो या दुखी, प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के साथ रहना चाहता है। उसकी इच्छा होती है कि मेरे सुख-दुःख में दूसरे भी साथी हों। अकेला आदमी अपने सुख से यथेष्ट आनन्द नहीं पाता, और दुःख का समय तो अकेले में काटना बहुत ही कठिन हो जाता है। हम चाहते हैं कि अपने अनुभव की बातें, अपने विचार दूसरों पर प्रगट करें और विविध विषयों के सम्बन्ध में दूसरों की बातें सुनें, और हो सके तो उनसे लाभ उठावें। विचारवान मनुष्यों को दूसरों की सेवा या सहायता न करने की दशा में अपना जीवन निरस और अपूर्ण प्रतीत होता है; वे सोचते हैं कि हमारा जीवन केवल हमारे लिए ही न हो, उससे दूसरों की कुछ भलाई होनी चाहिए।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनुष्यों ने कुछ तो अपनी भौतिक आवश्यकताओं के कारण, और कुछ अपनी स्वाभाविक प्रकृति से प्रेरित होकर, मिलजुल कर—ग्राम और नगर बनाकर—रहना आरम्भ किया।

वृहत् समाज—परन्तु क्या मनुष्य का सम्बन्ध अपने गाँव या नगर तक ही परिमित रहता है? हम अपने जीवन और रहनसहन पर तनिक विचार करें। हमारे अनेक भाई-बन्धु दूसरे गाँवों और नगरों में रहते हैं। हमारा पेशा करनेवाले, तथा जिन लोगों से हमें भिन्न-भिन्न

प्रकार की सहायता मिलती है, वे बहुधा दूर-दूर तक फैले हुए होते हैं। हमारी आवश्यकता की वस्तुएँ अनेक स्थानों से आती हैं, और हमें अपनी बनायी हुई चीजें दूर-दूर के भागों में बेचनी होती हैं। हमारे तीर्थयात्रा के स्थान जगह-जगह हैं। इस प्रकार हमारे कार्यों या विचारों का क्षेत्र कुछ थोड़े से गाँवों में ही परिमित न रहकर बहुत दूर तक फैला हुआ है; वास्तव में वह देश की सीमा को लांघ गया है। संसार भर के भिन्न-भिन्न देशों से हमारा सम्बन्ध है। वहाँ के मनुष्यों की विचार-धाराओं का प्रभाव हम पर पड़े बिना नहीं रहता। उनके दुर्भिक्ष और सुकाल से हमारे अनेक आर्थिक व्यवहार निश्चित होते हैं।

यदि दूसरे देशों की बात कुछ थोड़े ही आदमी सोचते हैं तो अपने देश से तो सभी का गहरा सम्बन्ध होता है, चाहे वह प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष ही हो। स्वदेश की उन्नति, अवनति, उसके सुख- दुख का विचार करना सब के लिए आवश्यक है। जन्मभूमि या मातृभूमि का अर्थ अब कोई गाँव या नगर नहीं रह गया है। जिस देश में जो आदमी रहता आता है, वह समस्त भूखंड उसकी जन्मभूमि है।

सुविधाएँ और उत्तरदायित्व—हम पहले बता आये हैं कि परिवार से हमारा कैसा हित होता है, तथा हमें उससे कैसा व्यवहार करना चाहिए। सामाजिक क्षेत्र में परिवार एक बहुत छोटा-सा समूह है। इसमें मिलनेवाली सुविधाएँ, और इसके प्रति पालन किया जानेवाला कर्तव्य स्पष्ट है। इन्हें समझना सरल है। तथापि कुछ विचार करने से हम यह जान सकते हैं कि जब समाज में हमारा सम्बन्ध दूसरे आदमियों से होता है और हमें उनसे विविध प्रकार की सुविधाएँ मिलती हैं, तो हमें भी उनके प्रति विविध कर्तव्यों का पालन करना आवश्यक है। ग्राम और नगर निवासियों से—स्वदेशवासियों से—हमें विविध सुविधाएँ मिलती हैं, उनका हम पर बहुत ऋण है। इस लिए हमें उसे चुकाने का यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए। हमारे

अपने ग्राम या नगर आदि के प्रति क्या-क्या कर्तव्य हैं, यह आगे प्रसंगानुसार बतलाया जायगा। यहाँ तो केवल इतना ही कहना है कि हमारा जीवन केवल हमारे ही लिए नहीं है, हमें दूसरों से सुविधाएँ मिलती हैं, उनके प्रति हमारा भी कुछ उत्तरदायित्व है।

समाज में नियमों की आवश्यकता--हम यह विचार कर चुके हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह दूसरों से मिलजुल कर रहता है। अब यदि किसी मनुष्य का सम्बन्ध थोड़े से ही आदमियों से, तथा बहुत नजदीक का, हो तो उसके व्यवहार के लिए नियमादि बनाने की विशेष आवश्यकता नहीं होती। उदाहरण के लिए एक परिवार के आदमी अपने आप सब कार्य सुचारु रूप से कर लेते हैं। परन्तु ज्यों-ज्यों हमारे सम्बन्ध का क्षेत्र बढ़ता जाता है त्यों-त्यों हमारे व्यवहार में सरलता कम हो जाती है, पेचीदगी बढ़ जाती है, त्रुटियाँ होने की सम्भावना अधिक हो जाती है। बात यह है कि मनुष्यों में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गण होते हैं, उनमें स्वार्थ की भावना होती है। हरेक आदमी यह चाहता है कि उसे कम-से-कम कष्ट उठाना पड़े और अधिक-से-अधिक लाभ हो। वह दूसरों की असुविधाओं का विचार कम करता है, वह उनके पदार्थों से भी अपना मतलब पूरा करना चाहता है। यदि समाज में मनुष्यों की इस प्रवृति को बे-रोक-टोक रहने दिया जाय, इस पर कोई नियत्रण या बंधन न रहे, 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की नाति रहे, तो उनमें कैसा घोर संघर्ष हो! समाज का जीवन ही संकटमय हो जाय!

इसलिए यह आवश्यक है कि समाज में रहनेवाले मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार की सुगमता के लिए, कुछ नियम बनाये जायँ, जिनका यथेष्ट ध्यान रखे जाने से सब को, सामूहिक रूप से, लाभ हो; सामाजिक जीवन सुखपूर्वक व्यतीत हो। इन नियमों का उद्देश्य यह होता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वत्वों या अधिकारों का समुचित उपयोग करे, परन्तु कोई दूसरों के, उनके स्वत्व भोगने में बाधक न

हो। समाज का प्रत्येक अंग दूसरे अंगों की उन्नति में भी सहायक हो, जिससे समस्त समाज की यथेष्ट रक्षा और वृद्धि होती रहे।

ये नियम समाजशास्त्र के अंग होते हैं। अर्थशास्त्र: राजनीति-शास्त्र, इतिहास और नागरिकशास्त्र आदि सामाजिक विद्याएँ हैं। ऐसी विद्याओं का आधार यह है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। यदि मनुष्य समाज में न रहे तो इन शास्त्रों का अस्तित्व न हो। अगले अध्याय में हम इस बात का विशेष रूप से विचार करेंगे कि नागरिक शास्त्र किसे कहते हैं, उसका क्षेत्र क्या है, उसमें किन-किन बातों का विवेचन होता है।

दूसरा अध्याय

नागरिक शास्त्र का विषय

"राजनीति का काम है, कि वह समाज के लोगों की जीवन-ज्योति बुझने न दे और उसे सदैव उन्नति की ओर अग्रसर करे।.........कोई कानून कानून नहीं है, जो प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध हो और मनुष्यों के नैसर्गिक अधिकारों में बाधा उपस्थित करे।"

—राधामोहन गोकुल जी

नागरिक—नागरिक शास्त्र के विषय को समझने के लिए, पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि 'नागरिक' किसे कहते हैं। नागरिक शब्द का साधारण अर्थ 'नगर का निवासी' है। परन्तु शास्त्र की दृष्टि से ग्राम-निवासी और नगर-निवासी में कोई भेद नहीं माना जाता, और न जाति-बिरादरी या धर्म और सम्प्रदाय आदि के भेद से ही लोगों के नागरिक होने में कोई अन्तर होता है। पर यह आवश्यक नहीं

है कि किसी राज्य के सब ही आदमी उसके नागरिक माने जायँ। राजनैतिक भाषा में इस शब्द का प्रयोग राज्य के केवल उन्हीं आदमियों के लिए होता है, जिन्हें वहाँ वे अधिकार प्राप्त हों, जिन्हें 'नागरिक अधिकार' कहा जाता है। नागरिक अपने राज्य के सदस्य या अंग होते हैं, उनसे उस राज्य का संगठन होता है; उनके उस राज्य के प्रति कुछ कर्तव्य होते हैं।

भारतवर्ष में रहनेवाले सब पुरुष और स्त्रियाँ भारतीय नागरिक हैं। इसमें ऊँच-नीच, जाति-पांति, या छूत-अछूत का कोई विचार नहीं। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य या शूद्र का, शिया और सुन्नी मुसलमान का, तथा रोमन कैथलिक या प्रोटेस्टेंट ईसाई का कोई भेद-भाव नहीं। यही क्यों, योरपियन या अमरीकन आदि भी, अपनी जन्मभूमि त्याग कर इस देश में बस जाने पर 'भारतीय नागरिक' हो सकते हैं। ब्रिटिश साम्राज्य के देशों के निवासियों को, अपनी जन्म-भूमि का त्याग न करने पर भी, यहाँ नागरिक अधिकार प्राप्त होते हैं; इसका कारण यह है कि भारतवर्ष इस समय ब्रिटिश साम्राज्य का अंग है।

अधिकारों और कर्तव्यों के सम्बन्ध में विशेष विचार आगे किया जायगा; यहाँ उनके उदाहरण स्वरूप यह उल्लेख कर देना है कि नागरिक को, निर्धारित योग्यता होने पर, अपने राज्य के शासन-प्रबन्ध में, मत देने का तथा विविध राजनैतिक पदों को प्राप्त करने आदि का अधिकार रहता है। उसे स्वदेश में अपनी रक्षा तथा उन्नति के साधन प्राप्त होते हैं; विदेशों में उसकी जान-माल की रक्षा की जिम्मेवारी उसके राज्य पर होती है। इस प्रकार उसे ऐसे बहुमूल्य अधिकार रहते हैं, जो वहाँ के नागरिक न होनेवाले व्यक्तियों को बड़ी कठिनाई से, बहुत प्रयत्नों के करने पर ही मिलते हैं, अथवा मिल ही नहीं सकते। निस्सन्देह ये बातें विशेषतया स्वाधीन, वैध राजतंत्र या प्रजातंत्र वाले राज्यों में ही होती हैं, अनियंत्रित राजतंत्र वाले राज्यों में नहीं होतीं।

अस्तु, इन अधिकारों के प्रतिफल-स्वरूप प्रत्येक नागरिक का अपने राज्य के प्रति कुछ उत्तरदायित्व होता है। उसे राज्य के नियम पालने, कर (टेक्स) देने, और आवश्यकता होने पर सैनिक सेवा करने आदि के कुछ कर्तव्य भी पालन करने होते हैं। जब कोई नागरिक अपने कर्तव्य-पालन में त्रुटि करता है तो उसे अपने राज्य के प्रचलित नियमों के अनुसार दंड मिलता है, और दंड पा चुकने की अवधि तक वह अपने कुछ अधिकारों से वंचित रहता है।

नागरिक और प्रजा—कहीं-कहीं, प्रायः एकसत्तात्मक शासन-पद्धति वाले या पराधीन देशों में 'नागरिकों' को 'प्रजा' कहा जाता है। साधारण बोलचाल में यह शब्द कुछ अधीनता का सूचक माना जाता है। 'प्रजा' कहने से ऐसे आदमियों से अभिप्राय होता है, जो राज्य के नियमों के अधीन तो हों, परन्तु जिन्हें शासन-सम्बंधी अधिकार न हों, अर्थात् जो नागरिक न हों। तथापि वैध शासनपद्धति वाले स्वाधीन राज्यों में नागरिकों को प्रजा कहे जाने से उनके अधिकारों में कुछ कमी होने की बात नहीं मानी जाती। उदाहरण के लिए, इङ्गलैण्ड के निवासी वहां की प्रजा कहलाते हुए भी, नागरिक अधिकारों के वैसे ही अधिकारी हैं, जैसे अमरीका के संयुक्त-राज्यों के निवासी, जो कि वहां के 'नागरिक' कहे जाते हैं। परन्तु जिन राज्यों में अनियंत्रित या स्वेच्छाचारी शासनपद्धति प्रचलित है, अथवा जो देश पराधीन हैं, उनमें प्रजा के वैध अधिकार बहुत कम होते हैं।

इस प्रसंग में संक्षेप में यह भी जान लेना उपयोगी होगा कि हिन्दी साहित्य में 'नागरिक' और 'प्रजा' शब्द का क्या अभिप्राय है। प्राचीन साहित्य में 'नागर', या 'नागरिक' शब्द का उपयोग चतुर या धूर्त आदि अर्थ में हुआ है चाहे वह व्यक्ति ग्राम में रहनेवाला हो, या नगर में। बहुधा राजा लोग नगरों में रहते हैं और इनके नाना अन्य राजकाज करनेवाले होते हैं, तथा कुछ विद्वान आदि राजा के आश्रित होते हैं; बहुत से विभागों या संस्थाओं का केन्द्र, कार्यालय या

दफ़्तर भी वहाँ ही हो जाता है। इसलिए उनसे सम्पर्क रखनेवाले नगर-निवासियों में बुद्धि और चतुराई अधिक हो जाना स्वाभाविक है; उनमें अधिकार-ज्ञान, होशियारी, चालाकी आदि गुण, गाँववालों की अपेक्षा अधिक हो जाते हैं। कुछ आदमी अपने ज्ञान और चतुराई का दुरुपयोग भी करते पाये जाते हैं. सम्भवतः इसीलिए हमारे प्राचीन साहित्य में 'नागरिक' शब्द का उपयोग धूर्त के अर्थ में हुआ होगा। क्रमशः 'नागरिक' शब्द से नगर-निवासियों का बोध होने लगा। निदान, साहित्य की दृष्टि से भी इस शब्द में ज्ञानवान होने, अपने अधिकारों को जानने, और उनकी रक्षा करने आदि का भाव शामिल है।

'प्रजा' शब्द का अर्थ साहित्य की दृष्टि से बाल-बच्चों का है। बाल-बच्चों का काम बड़ों की आज्ञा में रहने का है। उनका कर्तव्य है कि वे समुचित नियमों का पालन करें। उनके अधिकारों का प्रश्न विशेष रूप से उपस्थित नहीं होता, उनके माता-पिता आदि का कार्य है कि वे उनके सुख स्वास्थ्य आदि का समुचित ध्यान रखें। प्राचीन भारतीय संस्कृति में राजनैतिक दृष्टि से 'प्रजा' के इस अर्थ की रक्षा की गयी है। राजा का धर्म है कि वह प्रजा को प्रसन्न रखे, हर प्रकार के कष्ट उठाकर उसका, पुत्र की तरह, पालन-पोषण करे। यदि वह ऐसा न करे, तो वह राजा कहलाने योग्य नहीं, और प्रजा को उसकी आज्ञा में रहने की आवश्यकता नहीं। अस्तु, साहित्य की दृष्टि से 'प्रजा' शब्द में विशेष भाव कर्तव्य-पालन का है; अधिकारों का विचार इसमें गौण है। आधुनिक राजनीति में भी इस शब्द के अर्थ में कुछ ऐसा ही भाव मिलता है।

नागरिक शास्त्र—नागरिकों के नागरिक जीवन का उद्देश्य अपनी व्यक्तिगत तथा सामूहिक उन्नति करना है। इसके लिए उन्हें राज्य में क्या-क्या और कहाँ तक अधिकार होने चाहिएँ, तथा उनका एक दूसरे के प्रति, राज्य के प्रति, क्या-क्या कर्तव्य है—इस विषय का

विवेचन करनेवाला शास्त्र 'नागरिक शास्त्र' कहलाता है। इस शास्त्र में विशेषतया राजनैतिक दृष्टि से विचार किया जाता है। यह बतलाता है कि नागरिक जीवन किस प्रकार उत्तम हो सकता है, उसके लिए नागरिकों को राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक आदि क्षेत्रों में क्या-क्या कार्य करना चाहिए और उनके विविध कार्यों में कहाँ तक ऐसा नियंत्रण रहना चाहिए कि एक-दूसरे के उचित स्वार्थों में बाधा न हो; जिससे सबके विकास में अधिक-से-अधिक सुविधा मिल सके। इस शास्त्र के अध्ययन से मनुष्य अपने राज्य की, और गौण रूप से संसार की सुख-शांति बढ़ाने में सहायक होता है।

नागरिकशास्त्र और अन्य सामाजिक विद्याएँ; (क)

अर्थशास्त्र—पहले कहा जा चुका है कि नागरिक शास्त्र की भांति अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास आदि समाज-शास्त्र के अंग हैं। नागरिक शास्त्र का सामाजिक विद्याओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक प्रकार से वे इसके सहायक हैं। वे भिन्न-भिन्न विषयों की खोज करते हैं और उस खोज के परिणाम-स्वरूप कुछ नियम या सिद्धान्त स्थिर करते हैं। नागरिकशास्त्र में उन सिद्धान्तों का उपयोग होता है।

उदाहरण के लिए अर्थशास्त्र धन सम्बन्धी ज्ञान की खोज करता है। वह यह बतलाता है कि धन की उत्पत्ति, उसके उपभोग, विनिमय और वितरण के क्या सिद्धान्त हैं। नागरिकशास्त्र से ज्ञात होता है कि धनोत्पत्ति आदि में मनुष्यों का परस्पर कैसा व्यवहार होना चाहिए पूँजीपति अपने कारखानों में कोई ऐसा नियम या प्रबन्ध तो नहीं प्रचलित करते कि जिससे श्रमजीवियों को अपने नागरिक अधिकारों के उपयोग में बाधा उपस्थित हो। अर्थशास्त्र का उद्देश्य यह है कि समाज के भौतिक अभावों को दूर करके मनुष्यों की सुख-सम्पत्ति की वृद्धि करे। उसका यह उद्देश्य तभी यथेष्ट रूप से सफल हो सकता है, जब धनोत्पत्ति आदि में नागरिक शास्त्र के नियमों का समुचित ध्यान

रखा जाय। इसके साथ ही मनुष्यों का नागरिक जीवन अच्छी तरह बिताने के लिए, उनकी आर्थिक उन्नति होना ज़रूरी है।

(ख) राजनीति-शास्त्र—नागरिकशास्त्र राजनीति-शास्त्र का तो एक अंग ही है। इन दोनों शास्त्रों का इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि इन्हें पूर्ण रूप से पृथक् करना असम्भव सा है। राजनीति-शास्त्र राज्य के मूल, उसकी उत्पत्ति, उसके विविध स्वरूप, तथा उसके विकास और शासन सम्बन्धी सिद्धान्तों आदि के विषय में विविध दृष्टियों से विचार करता है। नागरिकशास्त्र का मुख्य विषय नागरिक है, परन्तु इसे गौण रूप से राज्य के सम्बन्ध में भी विचार करना होता है, क्योंकि किसी समूह के व्यक्तियों के नागरिक होने के लिए राज्य का निर्माण होना आवश्यक है। यदि राज्य में उसके नागरिकों को अधिकारों की अच्छी तरह रक्षा हो, तथा नागरिक अपना कर्तव्य ठीक-ठीक पालन करनेवाले हों, तो वहाँ की शासनपद्धति का स्वरूप चाहे जैसा हो, उससे विशेष हानि नहीं पहुँचेगी। वरन् यह कहा जा सकता है कि किसी देश की प्रचलित शासनपद्धति की उपयोगिता जाँचने के लिए एक कसौटी यही है कि वहाँ नागरिक शास्त्र के नियमों का व्यवहार कहाँ तक होता है।

(ग) इतिहास—इतिहास को हम मनुष्य-समाज के विविध प्रकार के कार्यों और अनुभवों का क्रमबद्ध विवेचन कह सकते हैं। उसके अनुशीलन से ही पाश्चात्य विद्वानों ने नागरिकशास्त्र के पुराने जमाने के नियम मालूम किये हैं, और इसकी बहुत-सी त्रुटियों का संशोधन किया है। नागरिकशास्त्र के नियमों का आधार मनुष्य जाति का अनुभव है; ज्यों-ज्यों इतिहास के द्वारा अधिक विचारों और अनुभवों का ज्ञान होता है, इस शास्त्र के नियमों पर नया प्रकाश पड़ता है, और उनके परिवर्तन और संशोधन में सहायता मिलती है। इस प्रकार, नागरिक शास्त्र का इतिहास से कितना सम्बन्ध है, यह स्पष्ट हो

जाता है। वास्तव में नागरिक शास्त्र की उत्पत्ति और विकास में इतिहास से बड़ी सहायता मिली है।

इसी तरह, नागरिक शास्त्र और अन्य सामाजिक विद्याओं का कैसा सम्बन्ध है, यह विचार किया जा सकता है। अब हम इसकी तुलना भौतिक विद्याओं से करेंगे।

नागरिक शास्त्र और भौतिक विद्याएँ—नागरिक शास्त्र ने अभी पूर्णता प्राप्त नहीं की है। इसके इस समय के प्रचलित सिद्धान्तों में पीछे भूल मालूम हो सकती है। ये सिद्धान्त अपने संशोधन के लिए समाज के नये-नये अनुभवों की प्रतीक्षा में रहते हैं। इसके विपरीत, भौतिक विद्याओं के बहुत से सिद्धान्त मूल रूप में बहुत-कुछ स्थिर रहते हैं। उन पर समाज के विकास या उत्थान-पतन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। नागरिक शास्त्र के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। इसके जो नियम प्राचीन काल में ठीक माने जाते थे, उनमें से कितने ही अब रद्द हो चुके हैं, तथा जो नियम इस समय प्रचलित हैं, उनके सम्बन्ध में न-मालूम कब कैसे संशोधन की आवश्यकता हो।

रसायन शास्त्र आदि कुछ भौतिक विद्याएँ प्रयोगात्मक हैं; अर्थात् उनके, इच्छानुसार, प्रयोग किये जा सकते हैं। उनके नियमों की परीक्षा अल्पकाल में और सहज ही हो सकती है। उन विषयों का विद्यार्थी उनके सम्बन्ध में जाँच करने के लिए भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ पैदा करके उनके परिणाम जान सकता है। उदाहरण के लिए वह यह मालूम कर सकता है कि अमुक पदार्थों के मिला देने से कौनसी वस्तु तैयार होगी, उसका रंग-रूप कैसा होगा, अथवा किसी वस्तु पर गर्मी, सर्दी, हवा, पानी, प्रकाश या अंधकार आदि का क्या प्रभाव पड़ेगा। परन्तु नागरिक शास्त्र के जिज्ञासुओं को परीक्षण की ऐसी सुविधाएँ नहीं होतीं। वे यथेष्ट परिस्थितियाँ पैदा नहीं कर सकते। उन्हें दीर्घ काल के इतिहास का अध्ययन करके ही कुछ अनुमान करना

पड़ता है, क्रमशः इस अनुमान की जाँच होती है और नियम निश्चित किये जाते हैं। नये-नये अनुभवों के अनुसार, इन नियमों में परिवर्तन, या संशोधन होता रहता है।

नागरिक शास्त्र के नियमों का व्यवहार—नागरिक शास्त्र के नियमों का आधार मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार हैं। इन व्यवहारों में देश के प्राकृतिक, आर्थिक, सामाजिक या राजनैतिक आदि परिवर्तन के कारण अन्तर पड़ता रहता है। इसलिए नागरिकशास्त्र के सिद्धान्तों के व्यवहार में समय-समय पर भेद उपस्थित होता रहता है। उदाहरण के लिए दासता या गुलामी के हटाने या धार्मिक स्वतंत्रता सम्बन्धी जो विचार उन्नत राज्यों में अब माने जाते हैं, वे कुछ समय पहिले मान्य न थे। फिर, जिस प्रकार एक देश की स्थिति सब कालों में एक-सी नहीं होती, उसी प्रकार सब देशों की स्थिति भी किसी एक समय में पूरे तौर से समान होना आवश्यक नहीं है। इसलिए प्रत्येक देश के लिए, उसकी उस समय की परिस्थिति के अनुसार, नागरिक शास्त्र के नियमों के व्यवहार में कुछ भिन्नता होनी स्वाभाविक है।

इस विषय के अध्ययन की आवश्यकता—पुरुष हो या स्त्री, धनवान हो या निर्धन, प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने कर्तव्यों और अधिकारों की ओर समुचित ध्यान दे, सुयोग्य नागरिक बनने का यत्न करे, और देश की उन्नति और रक्षा में यथेष्ट भाग लेते हुए उसकी सुयोग्य सन्तान कहलाने का अधिकारी हो। यह तभी हो सकता है, जब वह नागरिक शास्त्र के विषय का भली भाँति अध्ययन करे, और इसकी शिक्षा को अपने व्यवहार में लावे। इस विषय के अध्ययन की आवश्यकता इसलिए भी है कि यदि कोई हमारे अधिकारों का अपहरण करने लगे तो इसके अध्ययन से हम उनकी रक्षा करने में समर्थ हो सकते हैं, और इस प्रकार अपने उत्तराधिकारियों के लिए नागरिक अधिकारों की बहुमूल्य सम्पत्ति सुरक्षित छोड़ सकते हैं।

नागरिक शास्त्र, शिक्षा का एक आवश्यक अंग है—वास्तव में शिक्षा का उद्देश्य कुछ लिखना-पढ़ना जान लेना, या आजीविका प्राप्त करने के योग्य बन जाना ही नहीं है। शिक्षा का उद्देश्य है, नागरिकों की विविध शक्तियों का समुचित विकास और मनुष्यत्व की यथा-सम्भव पूर्णता की प्राप्ति। विद्यार्थियों को यह भी सिखाया जाना चाहिए कि व्यक्तिगत, सामाजिक, या राजनैतिक आदि ऐसे कौन-कौनसे कर्तव्य हैं, जिनका उन्हें अपने मनुष्य-जीवन में पालन करना है, और कौन-कौनसे अधिकार हैं, जिनका उन्हें अच्छी तरह उपयोग करना चाहिए; अर्थात् संक्षेप में विद्यार्थी किस प्रकार आदर्श नागरिक बनकर अपने देश, अपने राज्य, और किसी अंश में संसार की अधिक-से-अधिक सेवा कर सकते हैं। जब शिक्षा का उद्देश्य यह है, तो कर्तव्य और अधिकारों का ज्ञान कराने वाली विद्या—नागरिक शास्त्र—का उस शिक्षा का एक आवश्यक अंग होना स्पष्ट हो है। निस्सन्देह, नागरिक शास्त्र के ज्ञान के बिना, सब शिक्षा अधूरी या अपूर्ण है।

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व तनिक इस बात का भी विचार करलें कि भारतवर्ष में इस शास्त्र की ओर कैसी प्रवृत्ति रही है।

भारतवर्ष में नागरिक शास्त्र—भारतवर्ष की संस्कृति कुछ विशेष प्रकार की होने से, यहाँ प्राचीन काल में व्यक्तियों के कर्तव्यों और अधिकारों पर, शास्त्रीय विचार नहीं हुआ। प्राचीन स्मृतियों और पुराणों में मनुष्यों के कर्तव्यों का उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलता है। उन ग्रन्थों में यह भी बतलाया गया है कि कर्तव्य पालन न करनेवालों को अथवा दूसरों के अधिकारों का अपहरण करने वालों को क्या दंड दिया जाय। हाँ, हमारे प्राचीन साहित्य में कर्तव्य और अधिकारों के सम्बन्ध में क्रमबद्ध शास्त्र का अभाव ही है। अब परिस्थिति ऐसी है कि इस विषय को अच्छी तरह समझे बिना, कोई आदमी अपने प्रति

अथवा अपने राज्य के प्रति यथेष्ट कर्तव्यों का पालन तथा अपने समुचित अधिकारों की रक्षा नहीं कर सकता। इसलिए इस पर भली भांति विचार और चर्चा होनी अत्यन्त आवश्यक है। कुछ समय से यहाँ शिक्षा-क्रम में इस विषय को अधिकाधिक स्थान मिल रहा है। अब यहाँ नागरिक विषयों की जागृति बढ़ती जा रही है। आशा है नागरिकशास्त्र के पठन-पाठन की ओर यथेष्ट ध्यान दिया जायगा।

तीसरा अध्याय

राज्य और नागरिक

राज्य-निर्माण—पहले बताया जा चुका है कि अकेले-दुकेले रहने से मनुष्यों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती; साथ ही उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति भी उन्हें समूह में रहने के लिए प्रेरित करती है। इसलिए वे समाज में रहते हैं। सामाजिक जीवन उसी दशा में सुखमय हो सकता है, जब प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे से प्रेम और उदारता का व्यवहार करे, कोई किसी को हानि न पहुँचावे। इस उद्देश्य से कुछ नियम बनाये जाते हैं। इसके साथ, ऐसी योजना करने की भी आवश्यकता होती है कि नियमों का यथेष्ट पालन होता रहे। ऊँचे विचार वाले, सज्जन पुरुष तो ऐसा स्वयं कर लेते हैं; परन्तु किसी भी समाज में बहुत समय तक सब आदमियों के ऐसे ही होने की आशा नहीं की जा सकती। साधारण तौर से बलवान पुरुष दूसरों की वस्तुओं को छीना-झपटी करके लेने को उत्सुक रहते हैं। वे निर्बलों को सताते हैं, और उन्हें शांति-पूर्वक जीवन व्यतीत नहीं करने देते। इसलिए ऐसा प्रबन्ध करने की आवश्यकता होती है कि लोगों के स्वार्थ और बुरी भावनाओं पर नियंत्रण रहे।

ऐसी संस्था का संगठन किया जाता है, जो समाज के सब आदमियों से इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए समुचित नियमों का पालन कराये: नियम भंग करनेवालों को दण्ड देकर या उनमें अच्छे विचारों का विशेष रूप से प्रचार करके, उनका सुधार करे। यह संस्था समाज के लिए ऐसे कामों को भी करती है, जिन्हें समाज के व्यक्ति अलग-अलग न कर सकें, या बहुत कठिनाई से कर सकें। इस संस्था को सरकार कहते हैं; और, सरकार और जनता का सम्मिलित स्वरूप राज्य कहलाता है। सरकार जो काम करती है, उसे साधारण बोलचाल में राज्य की ओर से किया हुआ कहा जाता है। इस तरह राज्य और सरकार दोनों शब्द एक ही अर्थ में भी काम में लाये जाते हैं।

इस अध्याय में हम इस बात का विचार करेंगे कि राज्य और नागरिकों का परस्पर में क्या सम्बन्ध है। पहले राज्य का ठीक स्वरूप समझ लेना चाहिए।

राज्य के आवश्यक अंग; (क) जनता—राज्य का प्रथम आवश्यक अंग जनता है। यह नहीं कहा जा सकता कि राज्य-निर्माण के लिए मनुष्यों की कम-से-कम कितनी संख्या होनी चाहिए। प्राचीन तथा मध्यकाल में अनेक नगरों ने एक-एक राज्य का स्वरूप धारण किया हुआ था। उनके निवासियों की संख्या कुछ-कुछ हजार ही रही होगी। परन्तु आजकल युद्धों के भय से, तथा आमदरफ्त के साधन सुलभ होने आदि के कारण, राज्यों के बड़े-बड़े होने की प्रवृत्ति है। अब कुछ हजार की तो बात ही क्या, कुछ लाख जनसंख्या वाले राज्य भी बहुत कम हैं, और उनका अस्तित्व कुछ विशेष कारणों पर निर्भर है। इस समय अधिकांश राज्यों की जनता कई-कई करोड़ है।

(ख) भूमि—राज्य के निवासियों का किसी भू-भाग से स्थायी सम्बन्ध रहना आवश्यक है। यदि कोई समूह अपना सुनिश्चित नियम करले और सब आदमी निर्धारित नियमों के अनुसार कार्य करने लगें,

परन्तु वे किसी निश्चित स्थान में न रहकर जहाँ-तहाँ घूमनेवाले, अर्थात् 'खानाबदोश' हों तो उन व्यक्तियों से राज्य का निर्माण हुआ नहीं कहा जा सकता। राज्य के लिए समुद्र का भी यथेष्ट महत्व है; तथा, वायुयानों के आविष्कार और वृद्धि के कारण आकाश का भी उपयोग बढ़ता जा रहा है। फिर भी, कोई जन-समूह बहुत समय तक केवल जल या आकाश में नहीं रह सकता। अतः प्रत्येक राज्य में उसके निवासियों के रहने के लिए यथेष्ट भूमि होनी चाहिए।

(ग) एकता। राज्य के निवासियों में एकता होना भी आवश्यक है। यदि उनमें परस्पर रक्त-सम्बन्ध है, तथा उनकी भाषा, धर्म और इतिहास आदि एक ही हैं तो उनकी एकता स्वाभाविक तथा स्थायी रूप से रहनेवाली होती है, अन्यथा उनकी एकता का आधार कृत्रिम साधनों पर रहेगा। हाँ, यह सर्वथा सम्भव है कि कृत्रिम साधनों से प्राप्त एकता वाले राज्य में, पीछे जाकर एकता के स्वाभाविक साधनों की वृद्धि होती जाय। अस्तु, यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि राज्य की जनता में धर्म, भाषा, सभ्यता आदि में चाहे जितना भेद-भाव हो, जहाँ तक राज्य के कार्यों का सम्बन्ध हो, उन्हें मिलकर संगठित रूप से कार्य करना जरूरी है।

(घ) शासन—राज्य में शासन भी होना अनिवार्य है। शासन का स्वरूप भिन्न-भिन्न राज्यों में पृथक्-पृथक् होता है, परन्तु शासन बिना उसका काम नहीं चल सकता। यदि किसी भू-भाग के आदमी संगठित भी हों, परन्तु उनका संगठन धार्मिक या आर्थिक हो तो उनका राज्य बना नहीं कहा जा सकता।

[कुछ लेखक राज्य में जीवन, सदाचार, और पुरुषत्व (कठोरता, या धैर्य आदि) का होना भी मानते हैं, परन्तु ये राज्य के अप्रत्यक्ष गुण हैं।]

इस प्रकार राज्य मनुष्यों का राजनैतिक दृष्टि से सुसंगठित विशाल समुदाय है, जो किसी विशेष भूमि पर बसा हुआ हो। स्मरण रहे कि

वास्तव में राज्य होने के लिए एक देश का दूसरे देश वालों से सर्वथा स्वाधीन होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए भारतवर्ष एक बहुत बड़ा देश है, और यहाँ लगभग चालीस करोड़ आदमी रहते हैं। इसे, वर्तमान अवस्था में, ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रहते हुए, वास्तव में राज्य नहीं कह सकते। इसके विपरीत, अफगानिस्तान और फ्रांस आदि बहुत छोटे छोटे होने पर भी राज्य हैं, क्योंकि वे स्वाधीन हैं।

राज्य स्वयं साध्य है या एक साधन मात्र है? प्राचीन काल में यूनान और रोम आदि में राज्य को एक प्रकार से साध्य माना जाता था, जिसके वास्ते व्यक्तियों को अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। राज्य के सामने व्यक्ति कोई वस्तु न था। लोगों को वैयक्तिक स्वतंत्रता प्रायः कुछ भी नहीं थी। उनके प्रत्येक कार्य में—शिक्षा, आजीविका, धर्म और सदाचार आदि में—राज्य का हस्तक्षेप होता था; अर्थात्, राज्य के नियम ही यह निश्चय कर देते थे कि किसी व्यक्ति को किस प्रकार की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए, कौनसा धर्म स्वीकार करना चाहिए, इत्यादि। उस समय वहाँ के राजनीतिज्ञों का प्रायः यह मत था कि राज्य से पृथक् व्यक्तियों का कोई जीवन नहीं, कोई अधिकार नहीं। जिस प्रकार मनुष्य के भिन्न-भिन्न अंगों का काम सारे शरीर की सेवा और उन्नति करना है, उसी प्रकार राज्य के व्यक्तियों को राज्य रूपी शरीर की सेवा और उन्नति में लगे रहना चाहिए, अर्थात् उन्हें अपना अस्तित्व राज्य के विशाल अस्तित्व में मिला देना चाहिए। अब ऐसे विचारों के समर्थक बहुत कम रह गये हैं। आज-कल राज्य को प्रायः स्वयं-साध्य नहीं माना जाता। आधुनिक मत से वह एक साधन मात्र है। इस मत के अनुसार मनुष्य का विकास, उसकी उन्नति, उसकी सुख-समृद्धि मुख्य है, उसकी प्राप्ति के लिए ही राज्य का संगठन होना चाहिए।

राज्य का उद्देश्य—राज्य का उद्देश्य लोगों के उस स्वेच्छाचार,

उदण्डता और अनुचित स्वार्थों को नियंत्रित करना है, जो उनके सामूहिक जीवन में बाधक होते हैं। निस्सन्देह, मनुष्य राज्य का संगठन करके अपनी कुछ स्वतन्त्रता का नियंत्रित किया जाना स्वीकार करते हैं, परन्तु यह नियंत्रण वे इसीलिए स्वीकार करते हैं कि वे बृहत् स्वतन्त्रता का उपयोग कर सकें; किसी नागरिक के कार्य में दूसरे नागरिकों के स्वार्थ आदि के कारण कुछ बाधाएँ न हों। यह स्पष्ट है कि राज्य की ओर से होनेवाला नियंत्रण कम से कम होना चाहिए; वह केवल उतना ही हो, जितना नागरिकों की सामूहिक उन्नति और विकास के लिए आवश्यक हो; जितने से नागरिकों का सामूहिक जीवन सुख-शान्ति से व्यतीत हो। राज्य के नियमों से नागरिकों की शिक्षा या धर्म आदि किसी ऐसे विषय में हस्तक्षेप न होना चाहिए, जिसका सम्बन्ध नागरिकों के व्यक्तिगत जीवन से हो।

राज्य और नागरिक—राज्य के नियमों अर्थात् कानूनों की आवश्यकता या अनावश्यकता, उपयोगिता और अनुपयोगिता की जाँच करने के लिए एकमात्र कसौटी सार्वजनिक हित है। जिन कानूनों से नागरिकों के सामूहिक हित में बाधा पड़ने की सम्भावना या आशंका हो, उनके विषय में नागरिक यथेष्ट परिवर्तन, परिवर्द्धन, या संशोधन उपस्थित कर सकते हैं, अथवा यदि आवश्यकता हो तो उसे सर्वथा रद्द भी कर सकते हैं। इसी प्रकार जब उन्हें यह मालूम हो जाय कि राज्य का तत्कालीन स्वरूप अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर रहा है, अर्थात् उसके द्वारा नागरिकों का यथेष्ट विकास और उन्नति नहीं हो रही है तो वे राज्य के उस स्वरूप को बदल कर नयी तरह के राज्य की स्थापना कर सकते हैं। आजकल किसी आदमी को अच्छा नागरिक होने के लिए यह बात निरन्तर याद रखनी चाहिए कि मैं भी इस राज्य का बनाने वाला हूँ। यह राज्य अच्छा या बुरा, जैसा भी है, उसके यश अपयश का मैं भागीदार हूँ। जहाँ मैं यह चाहता हूँ कि राज्य मेरे सामाजिक या राजनैतिक जीवन को अच्छे-से-अच्छा होने

में सहायक हो, वहाँ मेरा भी यह कर्तव्य हो जाता है कि मैं राज्य के कानूनों और उसके स्वरूप को अच्छे-से अच्छा बनाऊँ, मैं राज्य के सुधार और उन्नति के लिए भरसक प्रयत्न करूँ। जब तक नागरिकों में राज्य के प्रति ऐसी भावना न हो, वे अपने 'नागरिक' पद के उत्तर-दायित्व को यथेष्ट रूप से समझनेवाले नहीं कहे जा सकते।

राज्य और नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्ध को अच्छी तरह जानने के लिए सरकार और उसके कार्यों के विषय में कुछ आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर लेना उपयोगी होगा।

सरकार के कार्य—(१) सरकार नागरिकों की सुख-शांति तथा उन्नति के लिए नियम, कायदे या कानून बनाती है। (२) जो कानून बनाये जाते हैं, सरकार उन्हें अमल में लाती है; और उनके अनुसार सेना, पुलिस, और जेल आदि का, और डाक, तार, रेल, शिक्षा, स्वास्थ्य, व्यापार और उद्योग आदि के लिए विविध प्रकार की संस्थाओं का संचालन या प्रबन्ध करती है; इसे शासन-कार्य कहते हैं। (३) सरकार लोगों के कानूनी अधिकारों की रक्षा करती है, और कानून तोड़नेवालों को दंड देती है। यह कार्य न्याय के अन्तर्गत है। इस प्रकार सरकार के तीन कार्य होते हैं—कानून-निर्माण, शासन और न्याय। कहीं-कहीं तो इन कार्यों के लिए तीन भिन्न-भिन्न विभाग होते हैं, और कहीं इनमें से दो या तीनों कार्य एक ही प्रकार के अधिकारियों के सुपुर्द होते हैं।

कानून-निर्माण और प्रतिनिधि-निर्वाचन—जब राज्य छोटे-छोटे होते थे, अथवा नागरिकता के अधिकारी बहुत थोड़े आदमी माने जाते थे तो राज्य के सब बालिग आदमी कानून बनाने के लिए सहज ही इकट्ठे हो सकते थे। परन्तु राज्य का क्षेत्र अथवा नागरिकों की संख्या बहुत बढ़ जाने पर ऐसा होना कठिन, और कुछ दशा में असम्भव होता है। इसलिए यह सोचा गया कि नागरिक अपने-अपने

प्रतिनिधि चुनकर व्यवस्थापक सभाओं का निर्माण करे, और इन सभाओं में नागरिकों के विविध हितों तथा स्वार्थों के प्रतिनिधि हों।

इस सम्बन्ध में आवश्यक है कि जितने क्षेत्र के निवासियों से किसी कानून का सम्बन्ध हो, उस क्षेत्र के सब निवासियों के प्रतिनिधि उसके बनने में योग दें, और टैक्स आदि लगावें; [अनियंत्रित शासनपद्धति वाले देशों में यह बात नहीं होती। पराधीन देशों में शासक जाति के आदमी भी अनायास नागरिकों के अधिकार पाकर न केवल कानून बनाने में भाग लेते हैं, वरन् प्रायः 'सर्वेसर्वा' हो जाते हैं।]

देश सम्बन्धी कानून बनाने में देश के प्रतिनिधि, प्रान्तीय कानून बनाने में प्रान्त के प्रतिनिधि, और इसी प्रकार जिले या नगर विशेष सम्बन्धी कानून के निर्माण में उस जिले या नगर विशेष के प्रतिनिधि भाग लें। प्रायः बड़े क्षेत्र में नीति-निर्धारण का काम होता है। ज्यों-ज्यों नीचे के क्षेत्र में आते हैं; अधिकाधिक ब्योरेवार बातें तय होती-हैं। किसी देश या प्रांत आदि के कानूनों का उत्तम या निकृष्ट होना उसके नागरिकों के प्रतिनिधियों पर निर्भर है। उनकी नैतिक निर्बलता या असावधानी से बहुत हानिकारक कानून बन सकते हैं। अतः यह आवश्यक है कि प्रतिनिधि अपने पद के महत्व को समझें और यथेष्ट योग्य होने की दशा में ही प्रतिनिधि बनना स्वीकार करें। निर्वाचकों को भी चाहिए कि अनुभवी और निस्वार्थ कार्यकर्ताओं से ही यह पद-ग्रहण करने की प्रार्थना करें, और उनके ही पक्ष में मत दें। प्रतिनिधि-निर्वाचन सम्बन्धी अन्य आवश्यक बातों पर अगले भाग में, 'मताधिकार' शीर्षक अध्याय में, विचार किया जायगा।

शासक और नागरिक—उन्नत और विकसित राज्यों में प्रतिनिधि-सभा द्वारा स्वीकृत नीति और आय-व्यय के चिट्ठे के अनुसार काम करने के लिए अनुभवी कर्मचारी नियुक्त होते हैं। ये शासक कहे जाते हैं। इनकी नौकरी तथा वेतन स्थायी होने के कारण इनकी

प्रवृत्ति निरंकुशता की ओर होती है। ये अपना उत्तरदायित्व जनता (जिसके प्रतिनिधियों से व्यवस्थापक संस्थाओं का संगठन होता है) के प्रति न समझ कर, अपने-अपने सरकारी विभाग के प्रति समझते हैं। ये विशेषतया पराधीन राज्य में, जनता के प्रति, बहुत कुछ उदासीन रहते हैं और सर्वोपरि बन जाते हैं. पुलिस और फौज इनके अधीन होने से, तथा दमनकारी कानून आदि से सुसज्जित रहने से इनकी सत्ता का सर्वसाधारण पर विशेष प्रभाव रहता है। परन्तु इन्हें अपनी शक्ति का दुरुपयोग न करना चाहिए। इन्हें कोई कार्य नागरिकों के हित के विरुद्ध न करना चाहिए। इन्हें उन नागरिकों का कृतज्ञ होना चाहिए, जो इनकी त्रुटियाँ दूर करके इनके वास्तविक उद्देश्य को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। इस विषय में विशेष विचार आगे प्रसंगानुसार किया जायगा।

नागरिकों को चाहिए कि अपने देश के शासकों के कार्य का अच्छी तरह निरीक्षण और नियंत्रण करते रहें। उनकी प्रतिनिधि-सभा का कर्तव्य है कि समय-समय पर शासकों के कार्य की आलोचना करके उन्हें बतलाती रहे कि उनका कार्य कहाँ तक उसकी निर्धारित नीति के अनुकूल या प्रतिकूल है।

न्याय और नागरिक—कानून-निर्माण और शासन की भांति न्याय-कार्य का भी नागरिकों से घनिष्ट सम्बन्ध है। राज्य के कानून नागरिकों और शासकों के लिए समान होने चाहिएँ। शासकों के लिए कानून में किसी विशेष सुविधा की आयोजना न होनी चाहिए। उनका व्यवहार कानून के अनुसार है या नहीं, इसका निश्चय न्यायालय करते हैं। जब नागरिकों का शासकों से किसी विषय पर मत-भेद हो, तो उसका निपटारा न्यायालय में ही हो सकता है। न्यायालय इस बात का भी विचार करते हैं कि जिन नागरिकों का परस्पर एक दूसरे से झगड़ा है, उनमें से कानून की दृष्टि से किसका पक्ष उचित है, एवं किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह ने किसी नागरिक नियम का उल्लंघन

तो नहीं किया है। न्यायालयों का उद्देश्य यह होता है कि राज्य में अपराध कम हों; शासक हों या शासित, सब अपना-अपना कार्य कानून की सीमा में रहते हुए करें। वे अपराधियों के सुधार के लिए विविध उपाय निश्चित करते हैं, और आवश्यकतानुसार दंड भी ठहराते हैं। इस प्रकार वे नागरिक जीवन को यथाशक्ति उन्नत करने में सहायक होते हैं।

न्यायालयों का उद्देश्य पूरा होने के लिए यह आवश्यक है कि न्याय-कार्य सस्ता हो, गरीब अमीर सब उससे बराबर लाभ उठा सकें। न्याय-कार्य निष्पक्ष भी होना चाहिए, अर्थात् उसमें किसी धर्म, रंग या जाति आदि के आदमियों के वास्ते न तो कोई रियायत हो और न कोई सख्ती ही हो। यह भी जरूरी है कि न्यायाधीश इतने स्वतंत्र हों कि शासकों का भी उन पर अनुचित दबाव न पड़ सके। तभी वे अपने उत्तरदायित्व का सम्यक् पालन कर सकते हैं। इस विषय का विशेष विचार, नागरिकों के न्याय सम्बन्धी अधिकार में, किया जायगा।

इस विवेचन से यह ज्ञात हो गया होगा कि नागरिकों का राज्य के कानून-निर्माण, शासन, और न्याय से क्या सम्बन्ध है। नागरिकों के अधिकारों का विवेचन स्वतंत्र रूप से दूसरे भाग में किया जायगा। यहाँ नागरिकता सम्बन्धी कुछ आवश्यक बातों का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। अगले अध्याय में इसी का विचार किया जायगा।

चौथा अध्याय

नागरिकता

नागरिकता; प्राचीन काल में, और अब—पिछले अध्याय में हम यह बता चुके हैं कि 'नागरिक' किस व्यक्ति को कहा जाता है। आज कल प्रत्येक देश में अधिकांश आदमियों को

जन्म से ही नागरिकता प्राप्त होती है। प्राचीन काल में प्रायः ऐसा नहीं था। उदाहरण के लिए यूनान के राज्यों में अधिकांश विदेशियों को, तथा युद्ध में जीत कर लाये हुए अथवा खरीदे हुए दासों को, नागरिक नहीं माना जाता था। दास, अन्य उपायों के अतिरिक्त, कुछ द्रव्य देकर भी नागरिकता खरीद सकते थे। अब अधिकांश आदमी नागरिकता विरासत में पाते हैं। यह उनका जन्म-सिद्ध अधिकार है।

अस्तु, अब हमें यह विचार करना है कि किसी राज्य में उन मनुष्यों की क्या स्थिति होती है, जो 'नागरिक' नहीं होते। उन्हें नागरिकता किस प्रकार प्राप्त हो सकती है? हम यह भी विचार करेंगे कि जो 'नागरिक' माने जाते हैं, उनकी नागरिकता किन-किन दशाओं में विलुप्त हो जाती है।

अनागरिक—राजनैतिक दृष्टि से किसी देश के मनुष्यों के दो भेद किये जा सकते हैं—नागरिक और अनागरिक। जो लोग नागरिक नहीं हैं, जिन्हें नागरिकता प्राप्त नहीं है, वे अनागरिक कहलाते हैं। इन्हें भी राज्य के विविध नियम पालन करने तथा कर देने पड़ते हैं। इस प्रकार इनका भी राज्य के प्रति कुछ कर्तव्य रहता है, जिसे न पालने की दशा में ये दंडित होते हैं।

अनागरिक दो प्रकार के होते हैं—स्वदेशी और विदेशी। किसी-किसी देश में स्त्रियों को यथेष्ट नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं होते। विशेष प्रकार का दंड मिलने पर राज्य के मनुष्यों को कुछ समय के लिए अथवा सदैव के लिए अनागरिक माना जाता है। ये व्यक्ति स्वदेशी अनागरिक कहे जा सकते हैं। विदेशी अनागरिक वे हैं, जो दूसरे देश से रोजगार आदि के लिए आये हुए हों, परन्तु जिन्हें निर्धारित नियमों के अनुसार नागरिक-अधिकार प्राप्त न हुए हों।

प्रायः प्रत्येक राज्य विदेशियों की रक्षा अपने देश में तो वैसी ही करता है, जैसी अपने नागरिकों की; परन्तु अन्य देशों में उनकी इतनी चिन्ता नहीं होती। विदेशी कहीं-कहीं ज़मीन खरीद सकते हैं, और

प्रायः हर एक राज्य में न्यायालय का उपयोग कर सकते हैं। परन्तु बहुत से देशों में उन्हें मताधिकार नहीं होता; और वे कुछ खास-खास शासन सम्बन्धी पद भी प्राप्त नहीं कर सकते। इस प्रकार राज्यों में प्रायः विदेशियों के नागरिक अधिकार परिमित होते हैं।

नागरिकता कैसे प्राप्त होती है ?—प्रायः नागरिकता दो प्रकार से प्राप्त होती है :—(१) जन्म या वंश से, (२) राज्य से नागरिकता की सनद लेकर। पहले प्रथम प्रकार पर विचार किया जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति उस राज्य का नागरिक माना जाता है, जहाँ के, उसके माता-पिता नागरिक हों। अधिकांश राज्यों में, नागरिकता के लिए वंश का विचार पुरुष-क्रम से होता है, अर्थात् कोई व्यक्ति उस राज्य का नागरिक माना जाता है, जहाँ का उसका पिता नागरिक हो। इन राज्यों में से किसी राज्य के किसी पुरुष से यदि कोई विदेशी स्त्री विवाह करे तो वह स्त्री अपने राज्य की नागरिक नहीं रहती, वह उस राज्य की नागरिक बन जाती है, जिस राज्य का उसका पति नागरिक होता है। दूसरे राज्यों में नागरिकता के लिए वहाँ का विचार स्त्री-क्रम से होता है।

ब्रिटिश कानून यह है कि इंगलैंड की सीमा के भीतर या अंग्रेजी जहाज पर जन्म लेनेवाला व्यक्ति भी (चाहे उसके माता-पिता अंग्रेज न भी हों) ब्रिटिश नागरिक माना जाता है।

[इस प्रकार ये व्यक्ति एक ही समय में दो राज्यों के नागरिक हो जाते हैं—(क) अपने राज्य के, और (ख) इंगलैंड आदि जन्म-स्थान वाले राज्य के। परन्तु अधिकांश देशों में किसी विदेशी को 'नागरिकता' देने के लिए यह आवश्यक समझा जाता है कि वह अपनी मातृभूमि या अन्य किसी भी राज्य का नागरिक न रहे। ऐसी दशा में कोई व्यक्ति एक समय में केवल एक ही राज्य का नागरिक हो सकता है।]

इंगलैंड तथा संयुक्तराज्य अमरीका आदि कुछ राज्यों में ऐसा नियम है कि इन राज्यों के नागरिकों की संतान को, चाहे उनका जन्म किसी भी देश में क्यों न हो, इन राज्यों की नागरिकता प्रदान की जाती है।

वंश और जन्म-स्थान—इस प्रकार नागरिकता की प्राप्ति में साधारणतया दो बातें मुख्य होती हैं—(१) वंश और (२) जन्म-स्थान। वंश का प्रभाव किसी व्यक्ति पर कितना होता है, माता-पिता और परिवार के अन्य सदस्यों के गुण, कर्म, स्वभाव का कितना प्रतिबिम्ब सन्तान में देखने में आया करता है, यह सब जानते ही हैं। इसकी तुलना में जन्म-स्थान का प्रभाव कुछ दशाओं में बहुत ही कम होता है। आमदरफ्त (आवाजाई) के साधन क्रमशः अधिकाधिक सुलभ होने के कारण आजकल यात्रा इतनी सुगम हो चली है कि अनेक व्यक्तियों का जन्म ऐसे राज्यों में हो जाता है जहाँ उन्हें कुछ दशाओं में तो महीना भर भी ठहरना नहीं होता, और जिसके प्रति भविष्य में उनकी ममता या भक्ति बिलकुल नहीं होती, अथवा बहुत ही कम होती है। इस विचार से बहुत से राजनीतिज्ञों का मत यह है कि नागरिकता-प्राप्ति में जन्म-स्थान की अपेक्षा वंश को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए।

देशीयकरण—'देशीयकरण' ('नेचूरेलिजेशन') द्वारा भी नागरिकता प्राप्त होती है। 'देशीयकरण' का अभिप्राय यह है कि एक आदमी अपनी जन्मभूमि से भिन्न किसी अन्य राज्य की निर्धारित शर्तों और नियमों का पालन करके, या पालन करने की प्रतिज्ञा करके, उस राज्य से नागरिकता की सनद और स्वत्व प्राप्त करले। ये शर्तें (या नियम) भिन्न-भिन्न राज्यों में अलग-अलग होती हैं, तथापि नागरिकता-प्राप्ति की इच्छा रखनेवालों को प्रायः निम्नलिखित बातों में से एक या अधिक का पालन करना होता

है; इनमें से पहली शर्त तो प्रायः सभी राज्यों में आवश्यक समझी जाती है :—

(१) निर्धारित समय तक निवास करना, (यह समय जुदा-जुदा राज्यों में एक वर्ष से लेकर दस वर्ष तक होता है);
(२) राजभक्ति अथवा राष्ट्र-भक्ति की शपथ लेना;
(३) राष्ट्र-भाषा का ज्ञान प्राप्त करना;
(४) चालचलन अच्छा रखना;
(५) राज्य की तत्कालीन शासनपद्धति और सिद्धान्तों में विश्वास रखना;
(६) अपना भरण-पोषण कर सकना; आवारा न रहना;
(७) जमीन या जायदाद खरीदना, आदि।

परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि किसी व्यक्ति के उपर्युक्त नियम पालन करने से ही कोई राज्य उसे नागरिक बनाले; अथवा, यदि नागरिक बनाये तो उसे नागरिकता के सभी अधिकार प्रदान करे।

नागरिकता किस प्रकार विलुप्त होती है?—निम्न लिखित बातों से नागरिकों की नागरिकता जाती रहती है :—

१—जैसा पहले कहा जा चुका है, प्रायः एक राज्य की स्त्री किसी दूसरे राज्य के नागरिक से विवाह करने पर अपने राज्य की नागरिक नहीं रहती।

२—बहुधा एक राज्य का नागरिक दूसरे राज्य का नागरिक बन जाने पर अपने राज्य की नागरिकता से वंचित हो जाता है।

३—जो व्यक्ति अपनी जन्मभूमि से भिन्न दूसरे राज्य की सीमा में जन्म लेने के कारण ही इंगलैंड आदि देशों के नागरिक बन जाँय, वे चाहें तो बालिग होने पर, सूचना देकर, इस दूसरे राज्य की नागरिकता का त्याग कर सकते हैं।

४—यदि कोई नागरिक अपने राज्य के निर्धारित अधिकारी को सूचना दिये बिना, बहुत समय तक विदेश में रहे तो उनकी, अपने राज्य की, नागरिकता जाती रहती है। यह समय भिन्न-भिन्न राज्यों में दस वर्ष या कुछ कम-ज्यादह है। (इस प्रकार नागरिकता खो देने वाला आदमी यदि अपने नये निवास-स्थान के राज्य की नागरिकता प्राप्त नहीं कर लेता तो वह किसी भी राज्य का नागरिक नहीं रहता।)

५—दुर्व्यवहार के कारण भी नागरिक अपने कुछ अधिकारों से वंचित कर दिये जाते हैं।

नागरिकता का क्षेत्र, राज्य और साम्राज्य—नागरिकता सदैव किसी-न-किसी राज्य की होती है। प्राचीन काल में अधिकतर राज्य प्रायः बहुत छोटे-छोटे होते थे। यूनानी राजनीतिज्ञ अरस्तू का विचार था कि एक राज्य का क्षेत्र इतना परिमित रहना चाहिए कि यदि एक आदमी बीच चौक में खड़ा होकर जोर से बोले तो उस राज्य के सब आदमी उसकी आवाज सुन सकें। इससे स्पष्ट है कि उसकी कल्पना के अनुसार राज्य आजकल के नगरों से भी छोटे थे। प्राचीन काल में भारतवर्ष में भी यह दशा थी कि विदेशी आक्रमणकारी किसी सेना को हराकर केवल कुछ थोड़े से ग्रामों या नगरों पर ही अधिकार पा सकते थे। उन ग्रामों या नगरों के समूह का क्षेत्रफल बहुत छोटा होता था; और उनके पास वाले गाँव या नगर आक्रमणकारी से युद्ध या संधि करने में सर्वथा स्वतन्त्र होते थे। इससे कहा जा सकता है कि भूत काल में यहाँ भी थोड़े से ग्रामों या नगरों का समूह एक राज्य समझा जाता था। आधुनिक काल में, यद्यपि कुछ छोटे-छोटे राज्यों का अस्तित्व बना हुआ है, अनेक स्थानों में पहले की स्थिति बदल गयी, या बदल रही है।

आजकल कुछ राज्यों का विस्तार तो बहुत ही बढ़ गया है। इस समय कितने ही साम्राज्य विद्यमान हैं। सिद्धान्त से एक राज्य या

साम्राज्य की सभी प्रजा, नागरिकता के अधिकारों की दृष्टि से समान समझी जानी चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं। प्रायः प्रत्येक साम्राज्य में कुछ भाग स्वाधीन, कुछ अर्द्ध-स्वाधीन, और, शेष पराधीन होते हैं। स्वाधीन भागों के नागरिकों के जो अधिकार होते हैं, वह अन्य भागों के निवासियों के नहीं होते। इस प्रकार साम्राज्य की नागरिकता का अर्थ, लोगों के लिए अपने-अपने भू-भाग की स्वाधीनता या पराधीनता के परिमाण के अनुसार, भिन्न-भिन्न होता है।

संसार के नागरिक—अनेक विचारशील सज्जन नागरिकता के लिए आधुनिक साम्राज्यों की सीमा को भी ठीक नहीं समझते, उन्हें इससे अनुदारता के ही भावों का परिचय मिलता है। भिन्न-भिन्न साम्राज्यों के पारस्परिक मनोमालिन्य और संघर्ष के अनुभव के कारण वे चाहते हैं कि साम्राज्य न रहे। समस्त मानव समाज का एक विश्व-संघ हो, जिसमें प्रत्येक राज्य अपने-अपने कार्य का संचालन करने में स्वतंत्र हो, तथा एक दूसरे की यथाशक्ति सहायता करता रहे। इस प्रकार वे यह भी चाहते हैं कि सुयोग्य नागरिक संसार भर का नागरिक हो। वह कहीं जाय, कहीं रहे, वह अपने कर्तव्यों का पालन करे और हर जगह उसके अधिकारों की रक्षा हो। इस विषय में हम अपने विशेष विचार आगे प्रकट करेंगे।

इस पुस्तक के इस भाग में नागरिक शास्त्र सम्बन्धी प्रारम्भिक बातों का विचार किया जा चुका। अब अगले भाग में नागरिकों के अधिकारों के विषय में ब्योरेवार विचार करेंगे।

दूसरा भाग

नागरिकों के अधिकार

पहला अध्याय

अधिकारों का साधारण विवेचन

अधिकारों और कर्तव्यों का सम्बन्ध—पहले बताया गया है कि नागरिकशास्त्र में नागरिकों के अधिकारों और कर्तव्यों का विवेचन होता है। यद्यपि अधिकार और कर्तव्य दो अलग-अलग वस्तुएँ मालूम होती हैं, असल में ये जुदा-जुदा दृष्टि से देखी हुई एक ही वस्तु के दो स्वरूप हैं। अधिकार को यदि हम 'लेना' कहें, तो कर्तव्य को हम 'देना' कह सकते हैं। राम को मोहन से कुछ लेना है, या मोहन को राम का कुछ देना है—बात एक ही है। राम और मोहन की दृष्टि से लेना और देना दो अलग-अलग कार्य हैं, परन्तु दी या ली जानेवाली वस्तु के विचार से काम एक ही है।

भारतवर्ष में प्रायः देने का विचार रहा और पश्चिम में लेने की बात की प्रधानता रही। होना असल में यह चाहिए कि दोनों ही तरफ़ का यथेष्ट ध्यान रखा जाय। योरप अमरीका को हम कर्तव्य का पाठ सिखावें तो हमें उनसे अधिकारों की शिक्षा लेने में कोई अपमान नहीं समझना चाहिए। व्यावहारिक संसार में, देना और लेना दोनों साथ-साथ चलते हैं।

अधिकारों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता—इसलिए अधिकारों और कर्तव्यों का विचार साथ-साथ होना चाहिए। हम कर्तव्यों की उपेक्षा करके नागरिकों के अधिकारों के आन्दोलन करने के समर्थक नहीं; पर नागरिकों की यह मनोवृत्ति भी तो अच्छी नहीं कि उचित अधिकारों की प्राप्ति का, अथवा प्राप्त अधिकारों की रक्षा का प्रयत्न न किया जाय। यह ठीक है कि अधिकार भी अपनी मर्यादा से बाहर जाने पर हानिकर होता है। पर इस संसार में दुरुपयोग किस वस्तु का नहीं हो सकता? अस्तु, हमें अपने अधिकारों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, जिससे उनका समुचित उपयोग हो सके। अच्छा; पहले यह जान लें कि अधिकारों के लक्षण क्या होते हैं।

अधिकारों के लक्षण—इस विषय में ये बातें ध्यान में रखने योग्य हैं—(क) नागरिक की हैसियत से राज्य का प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकतम विकास या पूर्णता की आशा करता है। इसके लिए उसे सम्यक् अधिकार मिलने चाहिएँ। अधिकार पाकर, अपना विकास करके, नागरिक दूसरों के लिए भी अधिक उपयोगी हो जाता है। अधिकारों से नागरिकों को इस योग्य होने में सहायता मिलती है कि वे अपने कार्य, विचार या अनुभव आदि से समाज की सेवा कर सकें, उसे लाभ पहुँचा सकें। इसका अर्थ यह नहीं है कि अधिकारों से नागरिकों को यथेष्ट पूर्णता प्राप्त हो जायगी। हमारा आशय यही है कि नागरिकों के यथेष्ट विकास या पूर्णता-प्राप्ति के मार्ग की बाधाओं को राज्य जहाँ तक हटा सकता है, हटावे। (ख) राज्य में, प्रत्येक व्यक्ति की, अपने विकास के लिए, अधिकार सम्बन्धी माँग का महत्व बराबर समझा जाना चाहिए; अर्थात् नागरिकों की जाति, रंग, माली हालत, अथवा धर्म या मत आदि के कारण उनमें कोई भेद-भाव न माना जाना चाहिए। इस विषय पर विशेष विचार 'समानता', के अध्याय में किया जायगा। (ग) यद्यपि व्यक्तियों में अधिकार की

भावना राज्य-निर्माण से पहले भी होती है, और वे अपने अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य का निर्माण करते हैं, तथापि कोई अधिकार वास्तव में राजनैतिक भाषा में 'अधिकार' उसी दशा में कहा जा सकता है, जब कि वह राज्य की ओर से मान्य हो। प्रत्येक अधिकार ऐसा होना चाहिए, जिसे राज्य के न्यायालय में सिद्ध किया जा सके। उसका स्वरूप अनिश्चित सा न रहना चाहिए; वह कानून द्वारा निश्चित और स्पष्ट होना चाहिए।

इस प्रकार संक्षेप में नागरिक अधिकारों के मुख्य लक्षण ये होते हैं:—

१—वे नागरिकों को पूर्णता प्राप्त करने, तथा उनकी विविध शक्तियों के विकास में सहायक हों।

२—राज्य के सब नागरिक उनका समान उपयोग कर सकें, ऐसा न हो कि कुछ विशेष व्यक्ति या संस्थाएँ ही उनसे लाभ उठावें, और दूसरे उसी प्रकार की स्थिति होने पर भी उस लाभ से वंचित रहें।

३—वे ऐसे हों कि यदि नागरिकों द्वारा उनके उपयोग किये जाने में कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह बाधा उपस्थित करे तो राज्य न्यायालय द्वारा उनकी समुचित रक्षा करा सके।

नागरिक अधिकारों के सम्बन्ध में अन्य बातों के जानने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि उनको कहाँ तक मर्यादा या सीमा में रखना आवश्यक है, और किन दशाओं में नागरिकों को स्वतन्त्र कार्य करना उचित है।

नागरिक अधिकार, और राज्य—किसी भी समय, राज्य उन व्यक्तियों का समूह होता है, जिनका उसके अन्तर्गत राजनैतिक संगठन हो। इन व्यक्तियों को इस विषय का निर्णय में कभी-कभी त्रुटि-या गलती भी हो सकती है कि नागरिकों के अधिकार कहाँ तक मान्य होने चाहिएँ, और कौनसा अधिकार मान्य न होना चाहिए। जब

मुझे खूब सोच विचार करने और गम्भीर विवेकशील महानुभावों से से विचार-विनिमय कर लेने पर पूरे तौर से यह निश्चय हो जाय कि अमुक विषय में राज्य का निर्णय ठीक नहीं है, वह गलत दिशा में जा रहा है, तो मुझे उससे कदापि सहमत न होना चाहिए; मुझे उसके विरुद्ध कार्य करना चाहिए। इस प्रकार ऐसी दशा में मुझे राज्य के विरुद्ध (नैतिक) अधिकार हो सकता है। अवश्य ही मेरा यह अधिकार उस समय राज्य को मान्य न होगा, परन्तु मुझे इस प्रकार कार्य करना चाहिए कि राज्य अपनी गलती को सुधारे। ऐसा करने के लिए मुझे राज्य से मत-भेद रखने की जोखम उठानी ही चाहिए, जबकि नागरिक के नाते राज्य को भूलों से बचाना, और उसे उच्चतम आदर्श पर पहुँचाना मेरा कर्तव्य है। सत्य की रक्षा करने के लिए, और राज्य से उस सत्य को मान्य कराने के वास्ते यदि मैं राज्य के विरुद्ध कार्य न करूँगा तो आदर्श की अवहेलना होगी, और मानव प्रगति का कार्य रुक जायगा। कभी-कभी ऐसे अवसर आते हैं जबकि कानून-भंग या राजविद्रोह करना नागरिक का कर्तव्य हो जाता है, और (नैतिक) अधिकार भी। पर इसका निर्णय खूब सोच समझ कर, शान्ति और निस्स्वार्थ भाव से, होना चाहिए।

हाँ, राज्य को अधिकार है कि मुझसे वैसे व्यवहार की आशा रखे, जो सार्वजनिक हित में बाधक न हो, उसमें सहायक ही हो। राज्य को, मुझे ऐसा कार्य न करने देना चाहिए, जिसके कारण दूसरे नागरिक उन अधिकारों का उपयोग न कर सकें, जो राज्य की ओर से उनके लिए प्राप्त हैं, अर्थात् मान्य हैं। समाज में प्रत्येक व्यक्ति के हित का महत्व समान है। अतः मेरा कोई अधिकार सार्वजनिक हित के विरुद्ध नहीं हो सकता। राज्य का कर्तव्य है कि सार्वजनिक हित का यथेष्ट ध्यान रखे, प्रत्येक नागरिक के अधिकार को सार्वजनिक हित की सीमा तक मर्यादित रखे, किसी को इस मर्यादा का उल्लंघन न करने दे; जब कोई नागरिक इसकी अवहेलना करे तो राज्य को समुचित

कार्रवाई करनी आवश्यक है। निदान, ऐसी दशा में राज्य को नागरिकों के विरुद्ध अधिकार होते हैं।

नागरिकों के अधिकारों का आधार उनकी योग्यता होनी चाहिए, इस बात को समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि उम्र धन, जाति, धर्म आदि का इन अधिकारों के सम्बन्ध में विचार किया जाना अनुचित है। पहले स्त्री-पुरुष भेद का विचार करते हैं।

स्त्री-पुरुष-विचार—प्राचीन भारत में स्त्रियों और पुरुषों के राजनैतिक अधिकार बहुत कुछ समान होने का परिचय मिलता है। कैकयी का रणक्षेत्र में जाकर दशरथ की रक्षा करना, लक्ष्मीबाई का कुशलता पूर्वक सैन्य-संचालन करना, अहिल्याबाई और रज़िया बेगम का प्रशंसनीय शासन-प्रबन्ध करना, अनेक राजपूतनियों का देश-रक्षा के लिये आत्म-बलिदान करना, आदि—इस बात के कुछ उदाहरण हैं। तथापि अधिकांश देशों में स्त्रियों के अधिकार पुरुषों की अपेक्षा बहुत कम रहे हैं। इस समय भी अधिकांश राज्य स्त्रियों को पुरुषों की बराबरी के अधिकार देने में सहमत नहीं हैं। प्रायः लोगों का मत यह है कि कम-से-कम कुछ नागरिक अधिकार तो स्त्रियों को विशेष ही दशा में मिलने चाहिएँ, और, अन्य अधिकारों के वास्ते कानून के अनुसार पुरुषों के लिए जितनी उम्र या योग्यता आदि आवश्यक हो, उसकी अपेक्षा स्त्रियों के लिए अधिक परिमाण रखा जाय। उदाहरण के लिए इंगलैंड में बहुत समय तक यह नियम रहा है कि तीस या अधिक वर्ष की उम्रवाली स्त्रियों को मताधिकार प्राप्त हो, जबकि पुरुषों को केवल इक्कीस वर्ष की उम्र में मताधिकार प्राप्त हो जाता था; अब तो स्त्रियों को पुरुषों की तरह २१ वर्ष की हो जाने पर मताधिकार मिल जाता है। अस्तु, प्रायः यह लक्ष्य रखा जाता है कि किसी अधिकार को प्राप्त करनेवाली स्त्रियों की संख्या, उस अधिकार वाले पुरुषों से कम रहे। परन्तु सर्वसाधारण के विचारों में कुछ उदारता आ रही है।

पुरुषों और स्त्रियों के राजनैतिक अधिकार समान रखने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। इस सम्बन्ध में विशेष विचार हम 'मताधिकार' शीर्षक अध्याय में करेंगे।

अस्तु, स्त्रियों को ऐसे अधिकारों से वंचित करना उचित नहीं है, जिनसे वे राष्ट्र की उन्नति में सहायक हो सकती हैं। अवश्य ही इसमें पारिवारिक जीवन की सुख-शान्ति का भी यथेष्ट विचार रखा जाना चाहिए। इस दृष्टि से स्त्रियों को राजनैतिक अधिकार उस सीमा तक मिल जाने चाहिएँ, जहाँ तक वे उनके अपने-अपने पारिवारिक कर्तव्य पालन में बाधक न हों। इसका यह आशय नहीं है कि इस सीमा के न रहने से सभी या अधिकांश स्त्रियां पारिवारिक कर्तव्यों की अवहेलना करने लग जायँगी। नहीं, विचारशील महिलाओं से पूर्ण आशा है कि वे अपने गृहस्थ सम्बन्धी आवश्यक कार्यों और विशेषतया सन्तान का यथेष्ट पालन-पोषण करके राज्य को सुयोग्य नागरिक प्रदान करने के सम्बन्ध में अपने महान उत्तरदायित्व का ध्यान रखेंगी। परन्तु नियम केवल विचारशीलों के लिए नहीं, सर्वसाधारण को लक्ष्य में रख कर बनाये जाते हैं, जिनमें सदैव कुछ अल्पज्ञ और अविवेकी भी होते हैं। इसलिए स्त्रियों के राजनैतिक अधिकारों के सम्बन्ध में हम उक्त सीमा का रखा जाना आवश्यक समझते हैं।

आयु का विचार—प्रायः यह माना जाता है कि नागरिकों को मताधिकार आदि कुछ अधिकार उन्हें बालिग़ होने पर ही प्राप्त हों। व्यवस्थापक संस्थाओं के लिए होनेवाले निर्वाचनों में बहुधा इक्कीस वर्ष या अधिक उम्र वालों को, और स्थानीय संस्थाओं के वास्ते प्रतिनिधि चुनने में अठारह वर्ष या इससे अधिक उम्र वालों को मताधिकार होता है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ आदमियों को इतनी उम्र से पहले भी भला-बुरा पहचानने और अपने अधिकारों का उपयोग करने की क्षमता हो जाती है, तथापि सर्वसाधारण का विचार करके, उक्त व्यवस्था ठीक

ही है। प्रायः कम उम्र के पुरुषों और स्त्रियों को यह राजनैतिक अधिकार दिये जाने से कुप्रबन्ध होने की ही सम्भावना बहुत अधिक होगी।

साधारणतया स्त्रियों की बुद्धि पुरुषों से अधिक मानी जाती है। उन्हें पुरुषों की अपेक्षा कम उम्र में बालिग मान लिया जाता है। भारतीय नीतिकारों ने जहां पुरुषों के लिए आम तौर से पचीस वर्ष की उम्र तक विद्याध्ययन आवश्यक बताया है वहां स्त्रियों के लिए सोलह वर्ष तक ही पर्याप्त माना है। सम्भव है इसमें विशेष विचार विवाह की दृष्टि से किया गया हो। परन्तु उनका साधारण वक्तव्य है "स्त्रियो का आहार दुगना; बुद्धि चौगुणी और प्रेम अठगुना होता है।" इस विचार से तो स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा कम उम्र में ही विविध राजनैतिक अधिकार मिल जाने चाहिएँ। परन्तु जैसा कि पहिले कहा गया है, वर्तमान परिस्थिति में उन्हें पुरुषों की अपेक्षा बहुत कम अधिकार हैं; उनके वास्ते उम्र का परिमाण कहीं तो पुरुषों के बराबर और कहीं उससे भी अधिक रखा गया है। ऐसा बहुत कम है कि कोई राजनैतिक अधिकार उन्हें पुरुषों की अपेक्षा कम उम्र में प्राप्त हो जाता हो। हम समझते हैं कि पुरुषों और स्त्रियों के लिए समान उम्र में समान राजनैतिक अधिकार मिलने का नियम ठीक ही है; हां, इसमें स्त्रियों के पारिवारिक कर्तव्यों की मर्यादा का ध्यान रखा जाना आवश्यक है, जिसके सम्बन्ध में हम पहले कह आये हैं;

साम्पत्तिक योग्यता और अधिकार—प्रायः राजनैतिक अधिकारों के सम्बन्ध में साम्पत्तिक या आर्थिक योग्यता को बड़ा महत्व दिया जाता है। उदाहरणार्थ अधिकांश देशों में ऐसे नियम प्रचलित हैं कि इतने रुपये किराये के मकान में रहनेवाले को, या इतने रुपये मालगुजारी या टैक्स के रूप में देनेवाले को, या इतनी सम्पत्ति रखनेवाले को अमुक राजनैतिक अधिकार—विशेषतया मताधिकार—प्राप्त हो।

ऐसे नियमों से वे व्यक्ति इन अधिकारों से वंचित हो जाते हैं, जिनकी साम्पत्तिक योग्यता इससे कम होती है। ऐसे आदमियों में अनेक व्यक्ति ऐसे हो सकते हैं और होते हैं, जिनकी राजनैतिक योग्यता दूसरों से किसी प्रकार कम नहीं होती, वरन् अनेक दशाओं में ज्यादा ही होती है। इसलिए हम राजनैतिक अधिकारों के लिए साम्पत्तिक योग्यता का ऐसा प्रतिबन्ध अनुचित समझते हैं, जिसके कारण अनेक नागरिक अपने राज्य की सेवा और उन्नति करने में भाग न ले सकें। हाँ, यदि उन नागरिकों को कुछ अधिकारों से वंचित किया जाय जो समर्थ होते हुए भी परावलम्बी हों, और मुफ़्त की रोटी खाते हों तो उचित ही होगा, क्योंकि इससे नागरिकों में स्वावलम्बन के भाव की वृद्धि होगी, जो राज्य की उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

जाति या धर्म का विचार—नागरिक विषयों में मुख्य उद्देश्य नगर या राष्ट्र का हित साधन करना होता है। इसलिए जाति, धर्म या सम्प्रदाय आदि के विचारों को गौण समझना चाहिए, इन्हें प्रधानता कदापि न मिलनी चाहिए। यह स्मरण रखना अत्यन्त आवश्यक है कि राज्य के किसी भी व्यक्ति को, वह चाहे जिस धर्म या जाति का क्यों न हो, किसी विषय में सार्वजनिक हित को हानि पहुँचाकर केवल अपनी जाति या धर्म वालों की दृष्टि से काम करने का अधिकार नहीं मिलना चाहिए। किसी जाति या धर्मवालों को उतनी ही स्वतंत्रता मिल सकती है, जितनी दूसरे धर्म और जाति-वालों को; इससे अधिक नहीं। प्रत्येक जाति और धर्म वाले व्यक्तियों को अपने तईं राज्य-रूपी एक विराट परिवार का सदस्य समझना चाहिए; कुटुम्ब-धर्म को भूलकर, उन्हें केवल अपने स्वार्थमय अधिकारों के लिए लड़ना-झगड़ना उचित नहीं है। किसी भी राज्य में, खासकर मिश्रित समाज वाले देश में, व्यक्तियों या जातियों के स्वतंत्र अधिकार नहीं हो सकते। जातिगत या धर्मगत अधिकार निर्धारित करने से किसी न किसी जाति या धर्म के लिए पक्षपात होने, और

दूसरों को हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है। इस प्रकार इससे नागरिक जीवन में, सुख-शांति नहीं हो सकती। अधिकार सम्बन्धी मत-भेद के अनेक प्रश्नों को हल करने का एकमात्र उपाय यही है कि जातिगत या धर्मगत अधिकारों की कल्पना को तिलांजलि दी जाय, और प्रत्येक अधिकार राज्य के हित की दृष्टि से उचित सीमा में रहे। किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को, कभी-कभी विशेष आवश्यकता होने की दशा में, कुछ निर्धारित समय के लिए कुछ विशेष सुविधाएँ भले ही दे दी जायँ, परन्तु जाति या धर्म के आधार पर किसी के साधारण और स्थायी नागरिक अधिकारों में कुछ कमी-बेशी नहीं होनी चाहिए।

जनसंख्या और संस्कृति का विचार—कुछ आदमी अल्पसंख्या या पूर्व इतिहास अथवा संस्कृति के आधार पर जातियों के संरक्षण का, अर्थात् उनको विशेष अधिकार दिये जाने का समर्थन किया करते हैं; अतः इसके सम्बन्ध में भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। हमें जान लेना चाहिए कि विविध राजनीतिज्ञों का इस विषय में क्या मत है, और अन्य राज्यों ने अपनी इस विषय की समस्या को किस प्रकार हल किया है।

इस प्रसंग में राष्ट्र-संघ अर्थात् 'लीग ऑफ नेशन्स' की निश्चित की हुई पद्धति बहुत विचारणीय है। इसे 'माइनारिटी गैरंटी' कहते हैं। योरप के अनेक राष्ट्रों ने इसे मान्य किया है। इसके अनुसार अल्पसंख्यक समाज की दो प्रकार की कसौटी होती है, सांस्कृतिक और जनसंख्या सम्बन्धी। सांस्कृतिक कसौटी यह है कि वह समाज भाषा में, जाति में, या धर्म अर्थात् सम्प्रदाय में बहुसंख्यक समाज से मूलतः भिन्न है। जनसंख्या सम्बन्धी कसौटी यह है कि उस समाज की जन-संख्या राज्य के कुल निवासियों में कम-से-कम बीस की सैकड़ा हो, और यह संख्या भी देश के भिन्न-भिन्न भागों में इस तरह बसी हुई होनी चाहिए कि उसे जो सुविधाएँ दी जायँ, उनका ठीक तरह उपयोग

हो सके, अर्थात् वह समाज ऐसा विभक्त न हो कि कहीं भी उसकी संख्या काफी न हो।*

इस पद्धति के अनुसार, अल्पसंख्यकों की रक्षा उनके (क) भाषा, (ख) धर्म, और (ग) जातिगत विशेषता अर्थात् रिवाज के सम्बन्ध में, और केवल इन्हीं के सम्बन्ध में, होनी चाहिए। अल्प-संख्यक समाज को कोई विशेष राजनैतिक अधिकार नहीं दिया जाता। साम्प्रदायिक निर्वाचन, पृथक् प्रतिनिधित्व, या साम्प्रदायिक दृष्टि से सरकारी पदों पर नियुक्ति आदि की कल्पना इस पद्धति में नहीं है। असल में, किसी राज्य में, राजनैतिक दृष्टि से एक ही समाज का होना लाभकारी होता है, भिन्न-भिन्न राजनैतिक समाजों के होने से राष्ट्र छिन्न-भिन्न और दुर्बल हो जाता है।

अधिकारों का वर्गीकरण—यद्यपि अधिकतर नागरिक अधिकारों को सभी सभ्य और उन्नत राज्य सर्व-मान्य समझते हैं, कुछ राज्यों ने प्रारम्भिक शिक्षा की प्राप्ति तथा राष्ट्र-भाषा के व्यवहार आदि कुछ अधिकारों का स्पष्ट उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं समझी; ये वहाँ बिना उल्लेख किये ही माने जाते हैं। अस्तु, यह बात देश-काल पर निर्भर है कि किस अधिकार का साफ जिक्र हो, और किसका न हो। जिन अधिकारों का विचार प्रायः प्रत्येक राज्य में रखा जाना आवश्यक समझा जाता है, उनका हम आगे क्रमशः विचार करेंगे।

---

* भारतवर्ष में मुसलमानों की संख्या २५ प्रतिशत है। इस प्रकार अखिल भारतवर्ष की दृष्टि से इनका समाज अल्पसंख्यक होने के नाते संरक्षण का अधिकारी है। परन्तु प्रान्तों का अलग-अलग विचार करें तो बंगाल, पंजाब, सिन्ध और पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में ये बहुसंख्यक हैं, और संयुक्तप्रान्त या बिहार आदि में इनकी संख्या २० प्रतिशत से कम है। इस प्रकार प्रांतीय दृष्टि से ये अल्प-संख्यक समाज को दिये जानेवाले संरक्षण के अधिकारी नहीं हैं।

दूसरा अध्याय

जानमाल की रक्षा

आत्मरक्षा—मनुष्य का जीवन बहुमूल्य है। इसे नष्ट करना नैतिक तथा कानूनी दृष्टि से एक घोर अपराध है। इसकी सदैव रक्षा की जानी चाहिए। किसी मनुष्य का जीवन केवल उसके लिए ही उपयोगी नहीं है, वरन् दूसरों के लिए तथा राज्य के लिए भी बहुत लाभकारी हो सकता है। इसलिए इसकी रक्षा की और भी अधिक आवश्यकता है। समाज तथा राज्य के नियमों से रक्षित होने से ही कोई आदमी अपने जीवन का अधिकतम उपयोग कर सकता है। जो कोई इसे हानि पहुँचाता है, वह न केवल उस मनुष्य का, वरन् राज्य का शत्रु है। इसलिए उन्नत राज्यों में नागरिकों की रक्षा के वास्ते पुलिस रहती है। परन्तु पुलिस के आदमियों की संख्या सदैव परिमित ही होती है। अनेक स्थानों तथा दशाओं में यह सर्वथा सम्भव है कि उनकी सहायता प्राप्त न हो सके। अतः प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार होता है कि आवश्यकता आ पड़ने पर वह स्वयं ही शत्रु या आततायी पर आक्रमण करके आत्म-रक्षा करे।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न विचारणीय है। यह कहा जा सकता है कि जब कोई व्यक्ति हमारे प्राण लेने पर उतारू हो तो हम उसे क्षमा क्यों न कर दें। निस्सन्देह क्षमा का बड़ा महत्त्व है, भिन्न-भिन्न देशों में समय-समय पर ऐसी घटनाएँ हुई हैं, जब कि क्षमाशील सज्जनों ने आततायियों पर अद्भुत विजय पायी है, उनके हृदय में परिवर्तन कर दिया है, और उन्हें शत्रु की जगह मित्र या अनुचर बना लिया है। परन्तु ऐसे उदाहरण इने-गिने, केवल अपवादस्वरूप ही, होते हैं। समाज में शान्ति बनाये रखने के लिए प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार होना चाहिए कि वह अपनी जान और माल की रक्षा कर

सके। यदि वह आततायियों को क्षमा करता है, तो वह उनके बल को बढ़ाने तथा समाज को हानि पहुँचाने में सहायक होता है।

दूसरों की रक्षा—अपनी रक्षा की भाँति मनुष्यों को अपने सगे सम्बन्धियों—पुत्र, स्त्री, माता, पिता, भाई-बन्धु आदि रिश्तेदारों की रक्षा की आवश्यकता है। समाज-प्रेमी और परोपकार-भाव वाला होने के कारण मनुष्य में अपने ग्राम और नगर निवासियों, जाति-भाइयों तथा धर्म-बन्धुओं की भी रक्षा करने की उत्सुकता रहती है। उदारता का भाव बढ़ जाने पर वह मनुष्यों में रिश्तेदारी आदि का विचार न कर जाति, धर्म या देश के क्षेत्र की परवा न कर, मनुष्य मात्र से अपना प्रेम-सम्बन्ध जोड़ लेता है, और जब किसी भी आदमी को संकट में देखता है तो बहुधा अपनी जान जोखम में डालकर भी उसकी रक्षा करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। इस बात का लिहाज करके कानून इस तरह का होना चाहिए, कि वह नागरिकों को अपनी रक्षा के साथ दूसरों की भी रक्षा करने का अधिकार दे।

अस्त्र-नियम—चोर, डाकू तथा हिंसक पशुओं आदि से, अपनी तथा दूसरों की रक्षा करना तभी सम्भव है, जब आदमियों के पास लाठी, खंजर, कृपाण आदि के अतिरिक्त तलवार बन्दूक आदि समुचित अस्त्र-शस्त्र रहा करें। संकट आने का कोई निश्चित समय नहीं होता, वह चाहे जब उपस्थित हो सकता है। इसलिए नागरिकों को सदैव शस्त्र रखने की अनुमति रहनी चाहिए; हथियार न रखने देकर, उन्हें आत्म-रक्षा में असमर्थ, कायर, तथा अत्याचार सहन करनेवाला बना देना अनुचित है।

यदि सरकार को यह शंका हो कि हथियारबन्द नागरिक कहीं उसके ही विरुद्ध न खड़े हो जायँ, तो यह भी ठीक नहीं; कारण कि सरकार का कर्तव्य-पालन तभी होता है जब वह नागरिकों द्वारा अनुमोदित हो। ऐसी दशा में नागरिकों का विरोध होगा ही क्यों! पुनः

आजकल तलवार बन्दूक आदि रखनेवालों का, आवश्यकता होने पर तोप, मशीनगन और हवाई जहाज आदि से अनायास ही दमन हो सकता है। निदान, नागरिकों को आवश्यक अस्त्र रखने में कोई बाधा न होनी चाहिए। हाँ, जब न्यायालय द्वारा यह प्रमाणित हो कि कोई नागरिक अपने उक्त अधिकार का दुरुपयोग करता है तो दंड-स्वरूप उस नागरिक को थोड़े-बहुत समय तक के लिए इससे वंचित किया जा सकता है।

जीने का अधिकार—साधारण तौर से हरेक आदमी को जीवित रहने का अधिकार माना जाता है। परन्तु जिसने किसी की हत्या, में या विद्रोह में भाग लिया हो, उसे बहुधा प्राण-दंड होता है। पहले असभ्य अवस्था में, आदमी प्रायः जान के बदले जान लेते थे, अब सभ्यावस्था में भी यह प्रथा चली आ रही है। हाँ, प्राचीन काल में हत्यारे की जान मृत व्यक्ति के सम्बन्धी लेते थे, अब यह काम जनता की एक संगठित संस्था अर्थात् सरकार करती है। हत्यारों के अलावा कुछ खास राजविद्रोहियों को भी फांसी दी जाती है। इस प्राणदंड के सुनने की बहुत से आदमियों को आदत पड़ गयी है। इसके उचित होने न होने का वे कभी विचार नहीं करते। वे यह नहीं सोचते कि किस परिस्थिति में, किन-किन कारणों से प्रेरित होकर किसी ने हत्या की है, और इसमें सामाजिक, आर्थिक या राजनैतिक व्यवस्था कहाँ तक उत्तरदायी है। खून करने का कारण प्रायः क्षणिक आवेश, क्रोध, शराबखोरी, पागलपन, विषयवासना, ईर्ष्या, या राजनैतिक असंतोष की पराकाष्ठा हुआ करती है। इन बातों को दूर करने अथवा नियंत्रित करने का समाज तथा राज्य की ओर से यथाशक्ति प्रयत्न होते रहना चाहिए।

प्राण-दंड के सम्बन्ध में विशेष विचार आगे के प्रसंग में किया जायगा।

आत्महत्या—कभी-कभी नागरिक स्वयं ही अपने आत्मरक्षा सम्बन्धी अधिकार और उत्तरदायित्व (एवं कर्तव्य) को भूल जाते हैं। बहुधा अज्ञान, अन्धविश्वास, मदान्धता, अत्यन्त क्रोध, निराशा, अथवा कभी-कभी भूख-प्यास के ही घोर कष्ट के कारण, मानसिक विकार की अवस्था में, आदमी आत्महत्या करने पर उतारू हो जाते हैं। राज्य का कर्तव्य है कि उन्हें उससे रोके और यथासम्भव उन कारणों को दूर करे, जिनसे नागरिक अपनी प्यारी जान स्वयं खो देने को तैयार हो जाते हैं।

माल की रक्षा—नागरिकों की जान की भाँति उनके माल की रक्षा की आवश्यकता है। बहुधा नागरिक अपनी जान पर खेल कर भी, अपनी सम्पत्ति की रक्षा करते हुए, देखे गये हैं। बात यह है कि जीवित रहने के लिए खाने-पीने आदि के सामान की जरूरत हर किसी को होती है; जिसके पास यह न हो, उसकी जिन्दगी दूभर हो जाती है। इसलिए प्रत्येक नागरिक को इसकी रक्षा का अधिकार होता है। राज्य को चाहिए कि नागरिकों को अपनी सम्पत्ति का यथेष्ट उपभोग करने दे, चोर और डाकुओं से उसकी रक्षा करे, तथा नागरिकों को उसकी रक्षा के लिए हथियार रखने की अनुमति दे। साथ ही राज्य को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि नागरिकों से इतना अधिक लगान या कर (टैक्स) आदि न ले कि वे धनोत्पादन के कार्य में निराश हो जायँ; क्योंकि ऐसे आदमी आवारा और बेकार होकर दूसरों के जान-माल की रक्षा में बाधक होते हैं।

इस अधिकार की मर्यादा—क्या नागरिकों के माल की रक्षा सम्बन्धी अधिकार की कोई मर्यादा नहीं है? क्या कोई नागरिक मनचाही सम्पत्ति उत्पन्न करके, उसका मनमाना उपभोग कर सकता है? हमारा प्रत्येक अधिकार इसलिए है कि उसे पाकर हम अपना विकास करने के साथ, समाज या राज्य के लिए अधिक उपयोगी

बनें। इस विचार से यह स्पष्ट है कि मुझे कोई माल या सम्पत्ति रखने का उसी सीमा तक अधिकार है, जहाँ तक मैं उसके द्वारा अपना तथा समाज या राज्य का हित साधन करूँ। मुझे उस दशा में सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं होना चाहिए, जबकि मैं उसका उपयोग दूसरे नागरिकों की हानि के लिए करूँ। यदि मेरी सम्पत्ति से दूसरे नागरिकों में रोग, कुविचार, विलासिता या व्यभिचार आदि का प्रचार होता है तो न केवल, मैं उसके लिए दंड का भागी हूँ, वरन् नागरिकता के विकसित सिद्धान्तों के अनुसार, यह भी विचारणीय होगा कि मुझे उस 'शरारत करने के साधन' से ही क्यों न वंचित कर दिया जाय।

इस प्रकार हरेक नागरिक की उतनी सम्पत्ति की तो रक्षा अवश्य ही होनी चाहिए, जिससे वह सुख-पूर्वक जीवन-निर्वाह कर सके। उससे अधिक माल का वह अधिकारी माना जाय, या न माना जाय, इसका निर्णय इस बात के आधार पर होना चाहिए कि वह उसका उपयोग किस तरह करता है; उसके खर्च करने का ढङ्ग समाज तथा राज्य के लिए हितकर है, या अहितकर। इस सिद्धान्त के अभी, विविध राज्यों में, मान्य होने की सम्भावना कम है, तथापि सब के लिए यह विचारणीय है।

विदेशों में जान-माल की रक्षा—स्वदेश की भाँति विदेशों में भी नागरिकों को अपनी जान-माल की रक्षा का अधिकार होता है। नागरिकों को इस बात का आश्वासन होना चाहिए कि राज्य के शत्रु-देशों को छोड़ कर वे जहाँ कहीं जावें, उन्हें अपने इस अधिकार के उपयोग में राज्य की अवश्य सहायता मिलेगी। सभ्य राज्य जब किसी देश में अपने नागरिकों की जान-माल पर आघात पहुँचते देखते हैं तो उस देश के अधिकारियों को समुचित चेतावनी या दंड देकर अपने महान् कर्तव्य का पालन करते हैं।

परन्तु; स्वदेश में, तथा विदेशों में नागरिकों को अपनी जान-माल

की रक्षा का अधिकार होना चाहिए, उनके पास यथेष्ट अस्त्र रहने चाहिएँ और राजनियम ऐसा होना चाहिए, जिससे नागरिकों को अपने उक्त अधिकार के उपयोग में समुचित सहायता मिले।

तीसरा अध्याय

शारीरिक स्वतंत्रता

"बिना तुम को शीघ्र ही कारण बतलाये, तथा न्यायालय में मामला चलाये, किसी को यह अधिकार नहीं है कि समाज के नाम पर तुम्हें कैद करे या जासूसी द्वारा तुम्हें कष्ट पहुँचावे।"

—जोसेफ मेज़नी

शारीरिक स्वतंत्रता का अर्थ—नागरिक की शारीरिक स्वतंत्रता का अभिप्राय यह है कि वह अपने घर में आजादी से रह सकता है, उसकी इच्छा या स्वीकृति बिना न कोई उसके घर में घुस सकता है; और, न कोई उसकी तलाशी ही ले सकता है, जबतक कि कोई मजिस्ट्रेट इस बात की लिखित सूचना न दे कि अमुक कारण से, उसके मकान की तलाशी ली जानी आवश्यक है। पुनः जब तक न्यायालय द्वारा किसी अपराध में दोषी प्रमाणित न हो, केवल सन्देह के आधार पर कोई नागरिक नजरबन्द, निर्वासित या कैद नहीं किया जा सकता, एक निर्धारित अवधि (प्रायः चौबीस घंटे) से अधिक हवालात में नहीं रखा जा सकता, तथा उसे अन्य किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाया जा सकता, उससे जमानत नहीं माँगी जा सकती, और न उसे अपनी सम्पत्ति के किसी भाग के उपभोग करने से रोका जा सकता है। युद्ध तथा संकट-काल आदि की ऐसी विशेष परिस्थिति

के सिवाय, जबकि मुकदमा चलाना सर्वथा असम्भव ही हो, किसी मनुष्य को खुली अदालत के निर्णय के बिना किसी प्रकार का दंड नहीं दिया जाना चाहिए।

स्वेच्छाचारी या अनियंत्रित राज्यों में, शासकों का इशारा पाकर पुलिस चाहे जिस आदमी की तलाशी लेती, और पकड़-धकड़ करती रहती है। यह सर्वथा अनुचित है। अपनी कार्रवाई के लिए समुचित आधार मिलने पर ही पुलिस को किसी की तलाशी लेनी या गिरफ्तारी करनी चाहिए।

राजनैतिक अपराधी—इस प्रसंग में राजनैतिक अपराधियों के विषय में कुछ विशेष विचार किया जाना आवश्यक है। जो लोग राजा या राज्य के विरुद्ध युद्ध करते हैं, या षड्यंत्र रचते हैं, या जो व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से कानून-भंग करते हैं या राज्य को पलटने का यत्न करते हैं, वे राजनैतिक अपराधी कहे जाते हैं। वे प्रायः अपने तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति के लिए नहीं, वरन् देशभक्ति के भावों से प्रेरित हो कर ही उक्त कार्यों में भाग लेते हैं। इनका मार्ग अनुचित या गलत हो सकता है, पर इनका उद्देश्य ऊंचा होने में सन्देह नहीं होता। इसलिए विचारशील राज्य यह समझते हैं कि राजनैतिक अपराधियों के बढ़ने से यह सूचित होता है कि राज्य की शासनपद्धति बहुत खराब है। जब वे राज्य राजनैतिक अपराधों की वृद्धि होते देखते हैं तो वे अपराधियों को दंड देने की अपेक्षा अपने शासनतंत्र को ठीक करना और उसे अधिकाधिक लोकमत के अनुसार चलाना अच्छा मानते हैं। वे राजनैतिक अपराध में गिरफ्तारी बहुत कम करते हैं। [जब कि उनका शासन-कार्य नागरिकों के मतानुकूल होता है, तो गिरफ्तारी का प्रसंग ही कम आता है।] उनका आदर्श यह होता है कि राजनैतिक कैदी एक भी न रहे। इसका अभिप्राय कोई यह न समझे कि वे राजनैतिक अपराधियों से मार, दबाव आदि का सा व्यवहार

करते हैं, और उनकी गणना चोरी आदि का अपराध करनेवालों में करके, केवल सरकारी कागजों में राजनैतिक अपराधियों की संख्या नहीं के बराबर रखना चाहते हैं। ऐसा करना तो संसार को, तथा स्वयं अपने आपको धोखा देना है।

सभी उन्नत राज्यों में राजनैतिक कैदियों के सुख स्वास्थ्य, सुविधा और शान्ति आदि का विचार, दूसरे अपराधियों की अपेक्षा, कहीं अधिक होता है।

शारीरिक स्वतंत्रता की रक्षा—अपनी शारीरिक स्वतंत्रता बनाये रखने के लिए नागरिकों को ऐसे स्वत्व प्राप्त होने चाहिएँ, जिनके द्वारा वे शासकों से भी, जब कभी वे निरंकुश हों, अपनी रक्षा कर सकें। उदाहरणार्थ, इंगलैंड में सन् १६७६ ई० का 'हेबियस कारपस एक्ट' नाम का कानून है। यदि कोई आदमी गैर-कानूनी उपाय से कैद या नजर बन्द कर लिया जाय तो इस कानून द्वारा उसे यह अधिकार है कि वह,अपने आपको हाईकोर्ट में उपस्थित किये जाने की दरखास्त दे। उस आदमी की तरफ से कोई दूसरा व्यक्ति भी इस विषय की दरखास्त दे सकता है। दरखास्त मिलने पर हाईकोर्ट उस आदमी को अपने सामने उपस्थित किये जाने की आज्ञा देता है। और, यदि हाईकोर्ट को यह विश्वास हो जाय कि उस आदमी की कैद या नजरबन्दी कानून के अनुसार नहीं है, तो वह उसे स्वतंत्र किये जाने की आज्ञा दे देता है। इस प्रकार गैर-कानूनी तरीके से कैद या नजरबन्द किये हुए आदमियों के सम्बन्ध में न्यायालय में विचार किये जाने की व्यवस्था है। यह कानून इंगलैंड के नागरिकों की शारीरिक स्वाधीनता की पूर्ण रूप से रक्षा कर रहा है। इसमें वहाँ के न्यायाधीशों का भी बड़ा भाग है। वे इस कानून की व्याख्या बहुत उदारता से करते रहे हैं। यदि किसी स्वेच्छाचारी अधिकारी ने—चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो—कभी उसकी अवहेलना कर नागरिकों

के अधिकार में बाधा डाली है, तो उसे अपने किये का फल भोगना पड़ा है।

वास्तव में, ऐसी व्यवस्था प्रत्येक देश में होनी चाहिए: जहाँ कहीं यह नहीं होती, जहाँ दमनकारी रेग्यूलेशन, फरमान या आर्डिनेंस आदि के बल पर राजप्रबन्ध संचालित होता है, वहाँ नागरिकों की शारीरिक स्वतंत्रता प्रायः कुछ भी नहीं होती। विशेष अवसर के लिए शासकों के हाथ में कुछ विशेष अधिकार रह सकते हैं, परन्तु उनका प्रयोग अत्यन्त आवश्यक होने पर, बहुत ही परिमित काल के लिए होना चाहिए। इस बात का यथेष्ट ध्यान रखा जाना चाहिए कि उसका नागरिकों पर आवश्यकता से अधिक लेशमात्र भी, तथा क्षण भर के लिए भी, प्रहार न हो। इस विषय में पूर्ण सावधानी रखी जाने पर ही नागरिकों की शारीरिक स्वतंत्रता सुरक्षित रह सकती है।

चौथा अध्याय

विचार और भाषण की स्वतंत्रता

"आदर्श राजनीति [illegible] इस बात की घोषणा करती है कि प्रत्येक मनुष्य को स्वतंत्रता पूर्वक अपने विचार प्रकाशित करने का अधिकार है। अत्याचारी ही इस सत्य का विरोधी है। भाषण-स्वतंत्रता और समाचारपत्रों की स्वतंत्रता की बात बड़ी गुण-पोषक है।"

—वु० वि० विल्सन

विचार-विनिमय की उपयोगिता—मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने से, उसमें स्वभावतः अपने विचार दूसरों के प्रति प्रकट

करने तथा दूसरों के विचार जानने की इच्छा होती है। एक आदमी अपना कार्य खास ढङ्ग से करता है, दूसरा उसके विषय में अपना विचार प्रकट करता है, इससे काम करनेवाले को अपनी भूल या कमी मालूम होती है, और वह अपनी पद्धति या शैली में परिवर्तन करता है। आवश्यक सुधार हो जाता है; उन्नति का रास्ता खुल जाता है। इस प्रकार समाज के व्यवहार में समय-समय पर अनेक परिवर्तन या सुधार होते रहने से वह उन्नति करता रहता है। इससे विचार-विनिमय की उपयोगिता स्पष्ट है।

विचार-स्वतंत्रता की आवश्यकता—विचार-विनिमय उसी दशा में विशेष आवश्यक और उपयोगी है, जब लोगों के विचार एक ही प्रकार के न हों, वे रूढ़ियों के दास या लकीर के फकीर न हों, उनमें कुछ भिन्नता या पृथक्ता हो, लोगों में स्वतन्त्र रूप से सोचने-विचारने की शक्ति हो, और उनके इस शक्ति के उपयोग में बाधाएँ न हों। जिस प्रकार प्रकृति में विविधता और विभिन्नता होती है, मनुष्यों की भावनाएँ, अनुभव और विचार भी स्वभावतः तरह-तरह के होते हैं, और इनकी प्रवृत्ति परिवर्तन की ओर रहती है। परन्तु कहीं-कहीं इसमें कृत्रिम बाँध लगा दिये जाते हैं। जैसे बहता हुआ जल स्वच्छ रहता है और रुका रहने पर वह सड़ जाता है, उसी तरह जब मानवी विचारों के प्राकृतिक प्रवाह को समाज या राज्य की सत्ता द्वारा रोक कर रखा जाता है तो उन विचारों में अस्वच्छता और विकार उत्पन्न हो जाता है। मनुष्य चेतनता के भाव को खोने लगते हैं, और जड़ यंत्रों की भाँति कार्य करने लगते हैं। इससे समाज और राज्य का अत्यन्त ह्रास होता है। इसलिए समाजों और राज्यों के लिए, उनके व्यक्तियों की विचार-स्वतन्त्रता अत्यन्त आवश्यक है।

विचार-स्वतंत्रता का क्षेत्र—मनुष्य के सब कार्य उसके विचारों के ही परिणाम होते हैं। सम्भव है कि हमारे कुछ विचार

सूक्ष्म जगत में ही रह जायँ, स्थूल रूप न धारण करें, अर्थात् कार्य-रूप में परिणत न हों। परन्तु हम जितने कार्य करते हैं, पहले हम उनकी कल्पना करते हैं, उनका चित्र हमारे मन पर खिंचता है। इस प्रकार विचार-स्वतन्त्रता का सम्बन्ध हमारे आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, सब प्रकार के कार्यों से है। हम अपने विचार दो प्रकार से प्रकट करते हैं—(क) भाषण या वार्तालाप द्वारा, और (ख) लिखकर। इस अध्याय में नागरिकों के भाषण सम्बन्धी अधिकार का विचार किया जायगा। लेखन-स्वतंत्रता का विवेचन पीछे होगा।

भाषण-स्वतन्त्रता—मनुष्यों की विचार-विनिमय करने की शक्ति क्रमशः बढ़ती रहनी चाहिए; इसके लिए उन्हें परस्पर में मिलकर वार्तालाप करने, भाषण देने और सुनने की सुविधाएँ होनी आवश्यक हैं। इसमें यथा-सम्भव कोई रुकावट न होनी चाहिए; अर्थात् नागरिकों को भाषण-स्वतंत्रता का अधिकार रहना चाहिए। नागरिक अपना मत स्वतंत्र रूप से प्रकट करें। हाँ, यदि उनका मत भ्रम-प्रचारक, अपमान-कारक, या राजद्रोहात्मक हो तो उसका आवश्यकतानुसार संशोधन किया जाय। और, यदि कोई आदमी जान-बूझकर किसी व्यक्ति, समाज या राज्य के सम्बन्ध में अनुचित विचार प्रकट करे तो उसके विरुद्ध कानूनी कार्रवाई की जा सकती है।

समाज और भाषण-स्वतन्त्रता—नागरिकों की सामाजिक स्वतंत्रता का विवेचन अन्यत्र किया गया है। उसमें बतलाया गया है कि जहाँ तक नागरिकों के व्यवहार का उनके व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध है, उसमें समाज की ओर से कोई हस्तक्षेप न होना चाहिए, उन्हें पूर्ण स्वतंत्र रहना चाहिए। व्यावहारिक स्वतंत्रता का आधार मानसिक स्वतंत्रता है। जो आदमी स्वतंत्र रूप से विचार नहीं करते, या नहीं कर पाते, उनके व्यवहार में स्वतंत्रता का आभास नहीं

मिलता। वे उन्नति नहीं कर पाते। इसलिए समाज को उनके तथा अपने कल्याण के लिए भाषण-स्वतंत्रता की रक्षा करनी चाहिए। अन्यथा आदमियों में खुशामद, चापलूसी, मक्कारी, छुकछिप कर बातें करना, कायरता आदि दुर्गुणों की वृद्धि होगी; और, सामाजिक जीवन बहुत दूषित हो जायगा।

बहुधा समाज में थोड़े-बहुत अन्ध-विश्वास प्रचलित होते हैं। सर्वसाधारण उन्हें बिना बुद्धि या तर्क की कसौटी पर कसे मानते चले जाते हैं। ये विश्वास कभी कुछ उपयोगी होते हैं और कभी अनुपयोगी या हानिकर। इनसे समाज का काम चलता है। साधारण आदमियों को इनकी जाँच करने या इनके विरोध करने का विचार नहीं होता। यदि कोई विचारशील आदमी इनकी आलोचना करने का साहस करता है, तो समाज यह सोचता है, कि इससे सामाजिक अशान्ति या कुव्यवस्था होगी, बहुमत क्षुब्ध हो जायगा। इसलिए वह उस आदमी को भाषण-स्वतंत्रता के अधिकार का उपयोग नहीं करने देता। परन्तु इतिहास बतलाता है कि भिन्न-भिन्न देशों में समय-समय पर ऐसे अनेक प्रसंग उपस्थित हुए हैं, जब कि समाज गलत रास्ते पर जा रहा था, बहुमत गलती पर था, तो किसी प्रतिभाशाली व्यक्ति का शुभागमन हुआ, उसने समाज को उसकी गलती से सावधान करने का प्रयत्न किया, समाज ने उसका दमन किया, उसे विविध कष्ट दिये और कभी-कभी तो उसके प्राण ही ले डाले। उस व्यक्ति के त्याग, कष्टों और बलिदान को देखकर दूसरे बहुत से आदमियों में सच्ची बात कहने का साहस हुआ और उन्होंने सत्ताधारियों के विरोध का, तथा उनके द्वारा दिये जानेवाले कष्टों का स्वागत किया। अन्त में समाज को अपनी भूल मालूम हुई, और जिन व्यक्तियों पर पहले उसने नाना प्रकार के अत्याचार किये थे, उनको अपना पथ-प्रदर्शक मानकर उनके प्रति (कभी-कभी तो मरने बाद) अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

इससे स्पष्ट है कि कोई समाज अपने को पूर्ण ज्ञानवान नहीं कह

सकता। गलतियाँ सब से होती हैं, और हो सकती हैं। इसलिए जो आदमी हमारे कार्यों या व्यवहारों की आलोचना करते हैं और हमारे दोष दिखाते हैं, उनको हमें ख्वाहमख्वाह अपना शत्रु न समझ लेना चाहिए। हमें उनके कथन पर शान्तिपूर्वक विचार करते हुए आत्म-निरीक्षण करना चाहिए, और आवश्यकतानुसार उनके विचारों से लाभ उठाना चाहिए, अपनी गलतियों को सुधारना चाहिए। तभी हमारी उन्नति और विकास का मार्ग प्रशस्त बना रह सकता है। निदान, समाज को चाहिए कि वह व्यक्तियों को भाषण-स्वतंत्रता का सम्यक् उपयोग करने दे, उसमें किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न करें।

राज्य और भाषण-स्वतंत्रता—अब राज्य की बात लें। उन्नत राज्य अब धार्मिक और सामाजिक विषयों में नागरिकों की भाषण-स्वतंत्रता को कहाँ तक मान्य करने लगे हैं, इस विषय में अन्यत्र बताया गया है। निस्सन्देह वे उस क्षेत्र में बहुत कुछ उदार बनते हुए दिखायी पड़ते हैं। परन्तु राजनैतिक विषयों में बहुत से राज्यों की धारणा यह होती है कि तत्कालीन व्यवस्था का विरोध करना नियम-विरुद्ध है और उसका दमन किया जाना चाहिए। यही कारण है कि किसी-किसी देश में बहुत से अभागे ऐसे होते हैं, जिनकी विचार-शक्ति से देश को कुछ लाभ नहीं पहुँचने दिया जाता। ये नजरबन्द, निर्वासित, या जेलों में कैद राजनैतिक अपराधी होते हैं। सरकारी आज्ञा के कारण, इनकी जबान पर ताला लगा रहता है; ये देश के अन्य निवासियों से विचार-विनिमय नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त किसी-किसी पराधीन देश में तो, जिस आदमी के बारे में सरकार को कुछ संदेह होता है, उसका भाषण जब चाहे बन्द किया जा सकता है, या उसके भाषण देने के लिए सरकारी अनुमति लेना अनिवार्य कर दिया जाता है। कभी-कभी आर्डिनेंस या फरमान जारी करके नगर या प्रान्त भर के नागरिकों को सभा करने के अधिकार से वंचित कर दिया जाता है। सार्वजनिक

सभाओं में खुफिया पुलिस की उपस्थिति भी बहुधा वक्ताओं के कार्य में विघ्न उत्पन्न करनेवाली होती है।

हमें याद रखना चाहिए कि जब आदमियों को खुलेआम अपने विचार प्रकट करने से रोका जाता है, तो वे प्रायः चोरी से, लुकछिप कर, जहाँ-तहाँ बातें करने लगते हैं। उनमें निर्भीकता नहीं रहती। वे कायर हो जाते हैं। जो आदमी लुकछिप कर भी बातें करने का अवसर नहीं पाते, उनकी स्वतंत्र विचार प्रकट करने की शक्ति का उपयोग न होने से, उनमें यह शक्ति ही नहीं रहती। और, जो आदमी कुछ स्वतंत्र विचार नहीं कर सकते, जो यंत्र की भांति कुछ साधारण क्रियाएँ करते हैं, वे अपने नागरिक कर्तव्यों का पालन नहीं कर सकते।

हम ऊपर कह चुके हैं कि लोगों को खुलेआम भाषण न देने की अनुमति न रहने की दशा में वे लुकछिपकर अपने विचारों का प्रचार करने लगते हैं। इस पर यथा-शक्ति नियंत्रण करने के लिए राज्य को गुप्तचर या खूफिया विभाग की विशाल योजना करनी पड़ती है। नागरिक भले ही यह न जान सकें कि अमुक व्यक्ति गुप्तचर है या नहीं, परन्तु गुप्तचर विभाग के होने का पता तो उन्हें लग ही जाता है; फिर वे एक दूसरे से आशंकित रहने लगते हैं, पारस्परिक विश्वास और प्रेम घट जाता है। सारा वातावरण बिगड़ जाता है। यह बात किसी भी राज्य के लिए हितकर नहीं हो सकती।

जो नागरिक निडर होकर अपना विचार-पूर्ण मत प्रकाशित नहीं कर सकते, झूठी प्रशंसा या खुशामद की बातें किया करते हैं, वे समाज और राज्य को अपने अनुभव का लाभ नहीं पहुँचा सकते। इस विचार से, बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों की यह सम्मति है, कि नागरिकों को व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से, अपना मत प्रकाशित करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। वे चाहे राज्य के वर्तमान प्रबन्ध को अपूर्ण या दोषी

बतलावें, या उसके संशोधन किये जाने के विषय में भाषण दें, उनके मत-प्रकाशन में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न की जानी चाहिए।

यदि कोई व्यक्ति राज्य के विरुद्ध आन्दोलन करता है, और उसका सर्वसाधारण पर बहुत प्रभाव पड़ता है, अथवा बहुत से नागरिक उसका साथ देने को तैयार हो जाते हैं, तो इस दशा में राज्य के कार्य-व्यवहार में कोई दोष होगा, इस दोष को दूर कर दिया जाना चाहिए। आम तौर से आदमियों का यह स्वभाव होता है कि वे शांति और सुव्यवस्था चाहते हैं, और जब तक कोई विशेष कारण न हो, वे कुव्यवस्था या उलटफेर करनेवाले आन्दोलन में भाग नहीं लेते।

राज्य को चाहिए कि सर्वसाधारण को वस्तु-स्थिति से ऐसा परिचित रखे कि उन पर किसी व्यक्ति की मिथ्या और भ्रम-प्रचारक बातों का विशेष प्रभाव न पड़ सके। राज्य के विशाल भवन का आधार इतना दृढ़ होना चाहिए कि किसी के छोटे-मोटे प्रहार से उसके गिरने की आशंका न हो; वह बालू की भीत की तरह निर्बल और नाज़ुक न होना चाहिए, जिसे हरदम आलोचना रूपी हवा के झोंके का भी डर रहे।

कुछ के लिए सब का अधिकार छीना जाना अनुचित है—भाषण-स्वतन्त्रता के विरोधी कभी-कभी कह देते हैं कि कुछ आदमी स्वभाव से उद्दंड और शरारती होते हैं, उन्हें अपनी शक्ति का दुरुपयोग न करने देने के लिए समाज में शक्ति और सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए, सार्वजनिक भाषण पर कुछ प्रतिबन्ध रखना आवश्यक है। इस विषय में विचार यह करना चाहिए कि ऐसे उद्दंड और शरारती आदमी सदैव इने-गिने ही हो सकते हैं। इनका सुधार और नियंत्रण करना कोई असाध्य कार्य नहीं, विशेषतया जब कि राज्य सुसंगठित हो और उसे लोकमत का यथेष्ट समर्थन प्राप्त हो। अस्तु, शरारती लोगों के लिए समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए, न कि उनके भय से सर्वसाधारण को ऐसे अधिकार से वंचित किया जाय,

जिस पर उनका बहुतसा विकास और उन्नति निर्भर है। यदि कोई राज्य इस विषय में ठीक विचार न कर सर्वसाधारण की भाषण-स्वतन्त्रता में बन्धन लगाता है तो वह गौण रूप से यह सूचित करता है कि वह उन थोड़े से व्यक्तियों का दमन करने में असमर्थ है। अतः वह अपनी निर्बलता का स्वयं परिचय देता है, और यह उसके लिए अनिष्टकारी है।

युद्ध-विरोधी भाषण—अब यह विचार करना है कि क्या युद्ध आदि संकट की स्थिति में भी नागरिकों को भाषण-स्वतन्त्रता रहनी चाहिए? जब कोई राज्य दूसरे से युद्ध करना चाहे तो क्या सब नागरिकों को उसका समर्थन ही करना चाहिए? क्या किसी नागरिक को उसका विरोध करने की अनुमति न होनी चाहिए? यद्यपि प्रायः राज्यों की युद्ध-मनोवृत्ति बढ़ी हुई है, और वे बहुधा इस विषय में नागरिकों के अधिकारों को नियंत्रित कर देते हैं; परन्तु आदर्श की दृष्टि से नागरिकों को ऐसे अवसरों पर भी भाषण स्वतंत्रता रहनी चाहिए। यदि वे युद्ध को उचित समझें तो उसका समर्थन करें, और यदि उसे अनुचित समझें तो उसका विरोध करें। किसी राज्य को अपने नागरिकों के मत की अवहेलना करके मनमाना कार्य न करना चाहिए। युद्ध जैसे कार्य में नागरिकों के सहयोग की अत्यन्त ही आवश्यकता होती है, यदि बहुमत उसके विरुद्ध हो, तो ऐसा कार्य कदापि न करना चाहिए। अगर नागरिकों की खासी संख्या युद्ध का विरोध करनेवाली है तो सरकार की नीति संदिग्ध ही कही जायगी, उसे उस पर दुबारा, और यथेष्ट विचार करना चाहिए; और, नागरिकों को युद्ध की आवश्यकता और उपयोगिता समझाकर बहुमत अपने पक्ष में करना चाहिए। जिस दशा में इनेगिने व्यक्ति ही युद्ध का विरोध करनेवाले हों, और अन्य सब उसे न्यायानुकूल समझते हों, तो सरकार को थोड़े से व्यक्तियों को युद्ध-विरोधी भाषणों से भयभीत होने का, या उनसे अपनी सफलता में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है। निदान, युद्ध कोई ऐसा विषय

नहीं है, जिसमें नागरिकों की भाषण-स्वतंत्रता नियंत्रित की जाय। प्रोफेसर लस्की ने अपनी 'ग्रामर-आफ-पोलिटिक्स' पुस्तक में इसी मत का समर्थन किया है।

कभी-कभी किसी राज्य के लिए कोई विशेष परिस्थिति भी हो सकती है। राज्य समझता है कि उसके नागरिक काफी विचारवान नहीं हैं। (इससे उस समय उसकी त्रुटि का प्रमाण मिलता है, और उसे इसको यथासम्भव शीघ्र दूर करना चाहिए।) शत्रु से आत्म-रक्षा करना आवश्यक है, और राज्य युद्ध तथा इसमें होनेवाले खर्च की उपयोगिता पूर्ण रूप से प्रकट नहीं कर सकता। उसे भय है कि युद्ध-विरोधी मनुष्य अपने भाषणों से सर्वसाधारण को अपने पक्ष में कर लेंगे और युद्ध के लिए यथेष्ट शक्ति और साधन न रहेंगे। ऐसी विशेष दशा में, संकट की अवस्था में, यदि राज्य कुछ समय के लिए नागरिकों की भाषण-स्वतंत्रता को नियंत्रित करे तो उसका कार्य आपत्तिजनक नहीं कहा जा सकता। परन्तु यह बात केवल अपवाद के रूप में है। यह आदर्श नहीं है। विशेष संकट के निवारण होते ही राज्य को नागरिकों के भाषण-स्वतंत्रता के अधिकार को मान्य कर लेना चाहिए।

भाषण-स्वतन्त्रता की रक्षा आवश्यक है—पहले बताया जा चुका है, राज्य का कर्तव्य है कि नागरिकों के विकास और उन्नति में सहायक हो; वह उनमें ज्ञान का प्रचार करे; विविध शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित करे। इस कार्य में सार्वजनिक भाषणों से बड़ी सहायता मिलती है। लोगों को बड़े-बड़े सुधारकों, विद्वानों और प्रतिभाशाली नेताओं के विचार जानने को मिलते हैं। ऐसे उपयोगी साधन की अवहेलना करना, उसके उपयोग में बाधा डालना किसी भी विवेकशील राज्य को शोभा नहीं दे सकता।

नागरिकों में स्वभाव से ही एक दूसरे के विचार जानने को, भाषण सुनने की इच्छा होती है। इसे दमन करना, मानो बहते हुए

पानी के प्रवाह को रोकने का प्रयत्न करना है। प्रवाह रुकेगा नहीं; हाँ, यह अवश्य होगा कि वह अपना रास्ता इधर-उधर को बना ले, या कृत्रिम बाँधों को तोड़-फोड़ डाले। जब लोगों को खुले आम, सार्वजनिक भाषणों से दूसरों के विचार मालूम नहीं होते तो उनकी उत्सुकता और भी बढ़ जाती है। वे लुक छिपकर, जैसे-तैसे उन्हें जानने का प्रयत्न किया करते है। और, क्योंकि इस रीति से इन्हें जो विचार मिलते हैं, वे सीधे रास्ते न आकर कभी-कभी बड़े चक्करदार रास्ते से आते हैं, इन विचारों में बहुत मिलावट हो जाती है। फिर, सुननेवालों को इनकी अपूर्णता का संदेह रहता है, वे अपनी-अपनी कल्पना के आधार पर इनकी पूर्ति करने लगते हैं। इससे बहुत से झूठे और भ्रम-पूर्ण विचारों का प्रचार हो जाता है। शुद्ध ज्ञान का लोप होने लगता है। इसलिए नागरिकों एवं राज्य दोनों की दृष्टि से भाषण-स्वतंत्रता की रक्षा की जानी चाहिए।

पाँचवाँ अध्याय

लेखन और प्रकाशन की स्वतंत्रता

"किसी नैतिक सिद्धान्त का यह कहकर खंडन नहीं किया जा सकता कि लापरवाह लोग इसका दुरुपयोग करते हैं, अथवा यह कहकर कि यदि अमुक सभा में या अमुक स्थिति में इसका खुल्लमखुल्ला प्रचार किया जायगा तो हानि का सम्भावना है।"

—डाक्टर मरे

लेखन-कार्य—पिछले अध्याय में नागरिकों की भाषण स्वतंत्रता का विवेचन हो चुका है। किसी मनुष्य के व्याख्यान से उस

समय के, तथा पास रहनेवाले आदमी ही लाभ उठा सकते हैं। परन्तु लेखन-शक्ति से आदमी दूर-दूर रहनेवाली समकालीन जनता को ही नहीं, वरन् भविष्य में आनेवाली पीढ़ियों को भी अपने अनुभवों से परिचित कर सकता है। इस प्रकार, किसी समय तक एक काम में जितनी उन्नति हो चुकती है, उसके बाद उसे आगे बढ़ाया जा सकता है। लेखन-कला की बदौलत, आनेवाली पीढ़ियाँ, अपने पूर्वजों के अनुभव से लाभ उठाती हैं, और उन्हें अपने काम को हर बार पहली ही अवस्था से आरम्भ नहीं करना पड़ता।

प्रकाशन का महत्व—लिखने की विद्या के साथ प्रकाशन-कार्य ने सहयोग करके उन्नति की गति और भी बढ़ादी है। साहित्य अब पहिले की अपेक्षा कितना सुलभ और सस्ता हो गया है, इसे प्रत्येक पाठक जानता है। यद्यपि कहीं-कहीं बहुत सस्ता होने के कारण इसका महत्व घटने के भी उदाहरण मिल सकते हैं, तथापि इसमें सन्देह नहीं, कि आज़कल प्रत्येक देश में जनता की जागृति और प्रगति में वहाँ प्रकाशित होने वाली पुस्तकों, तथा पत्र-पत्रिकाओं का बड़ा भाग होता है। ये पाठकों को बाहरी दुनिया का परिचय देती हैं, प्रतिदिन होनेवाली विविध सामाजिक, धार्मिक या राजनैतिक घटनाओं का ज्ञान कराती हैं, तथा उनके सम्बन्ध में समयोपयोगी आलोचना करके यथेष्ट लोकमत तैयार करती हैं।

स्वतंत्रता न रहने से हानि—पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि नागरिकों के भाषण-स्वातंत्र्य के न रहने से क्या-क्या हानियाँ होती हैं। प्रायः वे ही बातें लेखन और प्रकाशन की स्वतंत्रता को अपहरण करने के सम्बन्ध में भी लागू होती हैं।

शिक्षित व्यक्तियों में अपने विचार लेखबद्ध करके प्रकाशित कराने, तथा दूसरों के ग्रन्थों या पत्र-पत्रिकाओं आदि में प्रकाशित विचारों को पढ़ने की स्वाभाविक उत्सुकता होती है। इसलिए लेखन या प्रकाशन

में बाधा उपस्थित करना बहुत अनुचित है। नागरिकों के विचारों को प्रकट होने का अधिक से अधिक अवसर मिलना चाहिए। लेख, पुस्तकें और अखबार एक स्थान से दूसरे स्थान भेजने का काम डाक-खानों द्वारा, और सम्वाद आदि भेजने का काम डाक, टेलीफोन, या तार आदि के द्वारा होता है। इससे बहुधा नागरिकों के लेखन और प्रकाशन को 'सेन्सर' अर्थात् छानबीन करने के लिए इन संस्थाओं पर नियंत्रण रखा जाता है। इसलिए नागरिकों को इन संस्था-सम्बन्धी नियमों के विषय में सतर्क रहने की आवश्यकता है।

जो अखबार या पुस्तकें खुल्लमखुल्ला नहीं पढ़े जा सकते, उन्हें छुकछिपकर पढने के लिए प्रवृत्ति हुआ करती है; यह मनुष्य का स्वभाव है। सरकार अपनी दमन-नीति से इसे रोकने का प्रयत्न करे तो इसमें उसे कुछ समय के लिए भले ही सफलता मालूम हो, पर स्थायी लाभ होने की सम्भावना बहुत कम होती है। इसके अतिरिक्त दमन-नीति से प्रजा में असन्तोष बढ़ता है, जो राज्य के लिए अच्छा नहीं होता। निदान, जिस तरह एँजिन के बॉयलर से निकलनेवाली भाप के बाहर आने के लिए 'सेफ्टी वाल्व' की आवश्यकता होती है, और उसके बन्द कर देने से बॉयलर के टूटने-फूटने की जोखम उठानी पड़ती है, इसी प्रकार जो सरकार जनता के विचार-विनिमय को रोकती है, वह समाज-यंत्र को बिगाड़ने और उसमें विद्रोही शक्तियों को बढ़ाने में सहायक होती है। सरकारों को इस बात का गम्भीरता से विचार करके, अपने कर्तव्य का उचित पालन करना चाहिए।

लेखन और प्रकाशन सम्बन्धी अधिकारों की मर्यादा—नागरिकों के अन्य अधिकारों की भांति उनके इस अधिकार की भी मर्यादा रहनी चाहिए। उनका स्वच्छन्द व्यवहार—लेख आदि छपाकर अपने नागरिक बन्धुओं के विचारों को बिगड़ना, किसी की व्यर्थ निन्दा या अपमान करना, अथवा साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाना—कदापि उचित

नहीं है। धार्मिक, सामाजिक या राजनैतिक, किसी भी प्रकार का विषय हो, उस पर लेख आदि असत्य, या अनुचित शैली के न होने चाहिएँ। स्वतंत्र न्यायालयों द्वारा नागरिकों के लेखन और प्रकाशन सम्बन्धी अधिकार की ऐसी मर्यादा बनी रहनी चाहिए, जिससे नागरिक अपनी इन शक्तियों का समुचित उपयोग और विकास कर सकें, नागरिक जीवन उन्नत होता रहे, और राज्य इसमें अनुचित हस्तक्षेप न करे। साथ ही विचार-स्वातंत्र्य को नियंत्रित करनेवाले कानून यथेष्ट विचार और तर्क-वितर्क के बाद बहुत सरल तथा स्पष्ट भाषा में बनाये जाने चाहिएँ। उनका आवश्यकतानुसार समय-समय पर संशोधन भी होता रहना चाहिए। ऐसा न हो कि निम्न अधिकारी उनका वास्तविक अभिप्रायः भूल जायँ और उनका दुरुपयोग करें।

साहित्य की उन्नति होती रहनी चाहिए—साहित्य की उपयोगिता पहले बतायी जा चुकी है। राज्य का कर्तव्य है कि इसके प्रचार और वृद्धि में यथेष्ट सहायता करता रहे। वह कोई ऐसा प्रतिबन्ध न लगाये कि इस कार्य में बाधा पहुँचे। जब राज्य की ओर से लेखन या प्रकाशन में बाधाएँ उपस्थित होती हैं तो साहित्य उन्नतिमूलक या प्रगतिशील नहीं रहता। अनेक कवि, लेखक और सम्पादक अपनी योग्यता और प्रतिभा का समुचित परिचय नहीं दे पाते। वे देशोन्नति के लिए जो विचार आवश्यक समझते हैं, उन्हें प्रकाशित करते हुए झिझकते हैं; या तो वे उन्हें अपने मन में ही रखते हैं, अथवा अस्पष्ट, भ्रमात्मक और गोलमोल भाषा वाले लेखों में प्रगट करते हैं, जिससे पाठकों को उतना लाभ नहीं हो पाता, जितना होना चाहिए। साहित्य में दुरूहपन आजाता है—उसमें कृत्रिम रहस्यवाद और छायावाद बढ़ जाता है। उसका आशय बहुत से पाठक समझ नहीं पाते, या अपनी-अपनी बुद्धि और धारणा के अनुसार अलग-अलग लगाने लगते हैं; जो अकसर गलत होता है। जनता के मानसिक

विचारों में इस प्रकार का विकार पैदा हो जाना नागरिकों एवं राज्य दोनों की दृष्टि से हानिकारक है। अतः दोनों को चाहिए कि लेखन और प्रकाशन में अनावश्यक और अनिष्टकारी बन्धन न लगने दें, इस कार्य की स्वतंत्रता बनायी रखें।

छठा अध्याय

सभा करने का अधिकार

"एक परमात्मा की सन्तान होने से तुम सब भाई भाई हो; और क्या भाई-भाई के परस्पर मिलने-बैठने या सभा-सम्मेलन करने में बाधा डालना अपराध नहीं है?"

—मेजिनी

पिछले एक अध्याय में यह बताया जा चुका है कि नागरिकों को भाषण या व्याख्यान देने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। भाषण देने और सुनने के लिए सभा होना आवश्यक है। इस प्रकार भाषण-स्वतंत्रता के अधिकार में सभा करने का भी अधिकार सम्मिलित है। परन्तु इस विषय में कुछ विशेष विचार करने के लिए, इसको अलग लिया जाता है।

सभा करने के अधिकार का महत्व—बहुधा लोगों को, सरकार के कार्यों के विषय में कुछ शिकायतें होती हैं। उन शिकायतों को सर्वसाधारण पर प्रकट करने के लिए, सार्वजनिक सभाओं की योजना करके उनमें भाषण देने की आवश्यकता होती है। इन सभाओं में दूसरे पक्ष का भी विचार मालूम हो जाता है, और नागरिक एक निश्चित मत पर पहुँच जाते हैं। इससे सभाओं की उपयोगिता

स्पष्ट है। नागरिकों को सभा करने का यथेष्ट अधिकार होना चाहिए। इसी लिए इंगलैंड आदि उन्नत देशों में मनुष्यों के सभा करने और भाषण देने के कार्य को उनका जन्मसिद्ध अधिकार मान लिया गया है। वहाँ कोई कानून ऐसा नहीं है, जिससे नागरिकों को यह अधिकार दिया गया है ; वहाँ तो परम्परा अर्थात् रिवाज से ही सर्वसाधारण को यह अधिकार प्राप्त है।

वास्तव में इस अधिकार का बड़ा महत्व है। ठीक-ठीक राजनैतिक स्थिति मालूम करने और प्रचार करने के लिए स्वतंत्रता पूर्वक विचार करने और भाषण देने की अत्यन्त आवश्यकता होती है। स्वतंत्रता-पूर्वक की हुई सभाओं में भ्रमात्मक विचार दूर हो जाते हैं। असत्य बातों के प्रकट हो जाने पर उनका खंडन हो सकता है, परन्तु यदि नागरिकों को उन्हें प्रकट करने का अवसर न मिले, भय द्वारा उन्हें भीतर ही भीतर रोका जाय तो लोगों को वे बातें सच्ची प्रतीत होती रहती हैं, और उनसे बड़ा अनर्थ होता है। जनता में बुरे विचार रोकने के लिए राज्य को चाहिए कि उसमें शिक्षा का प्रचार करे, और कानून भंग करनेवालों को समुचित दंड दे; न कि नागरिकों के, सभा करने के बहुमूल्य और महत्वपूर्ण अधिकार का अपहरण करे।

इस अधिकार की मर्यादा—पहले बताया जा चुका है कि राज्य का कार्य, नागरिकों को उनके सामूहिक कार्यों में यथासम्भव सहायता देना है। इसलिए राज्य के कर्मचारियों को चाहिए कि सार्वजनिक सभाएँ करनेवालों को विविध प्रकार की सुविधाएँ दें, परन्तु वे प्रायः ऐसा बहुत कम करते हैं। अस्तु, प्रत्येक व्यक्ति को एक या अधिक आदमियों के साथ मिलकर बैठने या बातचीत करने का अधिकार है, तो इसका यह आशय नहीं कि कोई किसी के प्रति आपत्तिजनक या मानहानि-सूचक शब्द कहे, अथवा ऐसे तरीके से सभा करे कि सार्वजनिक शान्ति भंग हो, या उत्तेजना फैले, या

नागरिकों में भय का संचार हो। ऐसी सभाओं के लिए उनके संचालक उत्तरदायी हैं। उनके प्रति कानूनी कार्रवाई होनी चाहिए।

शासकों का उत्तरदायित्व—परन्तु, स्मरण रहे कि राजनीति का एक सिद्धान्त यह है कि राज्य का कर्तव्य, व्यक्तियों को उनके प्रत्यक्ष रूप में किये हुए अपराधों के लिए दंड देना है, न कि कल्पना के आधार पर उन्हें अपराध करने से रोकना। जब तक कोई मनुष्य कानून भंग करते न पाया जाय, तब तक केवल इस आशंका से कि वह कानून भंग कर सकता है, उसे अपने वैयक्तिक अधिकार के उपभोग से नहीं रोका जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, यदि किसी सभा की कारवाई कानून के भीतर है तो केवल इस विचार से कि उससे उत्तेजना फैलने की सम्भावना है, उक्त सभा नाजायज नहीं ठहरायी जा सकती। यदि ऐसी आशंका हो कि उक्त सभा के किये जाने से दूसरे आदमी ख्वाहमख्वाह चिढ़ेंगे और शान्ति-भंग करने पर उतारू होंगे, तो शासकों या मजिस्ट्रेटों का काम यह नहीं है कि सभा बंद करके उसके सचालकों के नागरिक अधिकारों को अपहरण करलें; वरन् उनका कर्तव्य यह है कि शान्ति भंग करनेवालों का नियंत्रण करने के लिए पुलिस का समुचित प्रबन्ध करें, जिससे आवश्यकतानुसार काम लिया जा सके।

निदान, मजिस्ट्रेट की आज्ञा से कोई शान्त सभा अवैध ठहराया जाना अनुचित है। शासकों को ऐसी सभा भंग करने का अधिकार कदापि नहीं होना चाहिए। और, जो गुंडे या बदमाश उस सभा में बाधा डालते हैं, उन्हें कानून के अनुसार दंड मिलना चाहिए। इसके विपरीत, यदि उनके भय से शासक ऐसी सभा को भङ्ग कर देंगे तो इससे उनके प्रबन्ध की त्रुटि या उनकी निर्बलता सिद्ध होगी, और इसका परिणाम राज्य के लिए बहुत घातक होगा, गुन्डों और बदमाशों को मनमानी कार्रवाई करने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा, कानून का शासन उठ कर उद्दण्डता का राज्य हो जायगा।

सभा भंग करने की स्थिति—अधिकतर-सभाएँ शान्तिमय और सद्भावनाओं से प्रेरित होती हैं। उनसे किसी को हानि नहीं होती, लाभ ही होता है। राज्य को भी उनके विषय में कोई आपत्ति नहीं होती। परन्तु कभी-कभी ऐसा अवसर आ सकता है जब कि सभा का लक्ष्य राज्य को उलट देना हो। सरकार को ऐसे समूह भंग करने का अधिकार है, जो उसी समय और निश्चित रूप से, तथा अशान्तिमय या हिंसक उपायों से, अराजकता का प्रचार करना हो। परन्तु उसे ऐसा करते समय भी, न्यायोचित मर्यादा में रहना अत्यन्त आवश्यक है।

अशान्ति-दमन-कानून—सार्वजनिक शान्ति में विघ्न डालने वाली सभाओं को भङ्ग करने की आवश्यकता होने पर शासक पुलिस, और सेना से काम ले सकते हैं, अशान्ति-दमन-कानून या 'मारशल ला' का प्रयोग कर सकते हैं। परन्तु यह आवश्यक है कि शासक अपने इस अधिकार का उपयोग विशेष परिस्थिति में, और उचित सीमा में, करें। अन्यथा इसका परिणाम वैसा ही, या उससे भी अधिक बुरा होगा, जैसा कि उपर्युक्त सभा के होने देने से होता; अशान्ति-दमन-कानून ही अशान्ति बढ़ाने वाला बन सकता है। अस्तु, इस कानून का नियंत्रण किस प्रकार हो ?

इस कानून का नियंत्रण—प्रथम तो यही बात भली भांति याद रखने की है कि बहुत ही जटिल और दुर्दमनीय अवस्था उत्पन्न हुए बिना, सैनिक शक्ति का कभी प्रयोग न किया जाना चाहिए। सैनिक लोग अवसर पाते ही अपने शस्त्रों का प्रयोग करते हैं, और उनके शस्त्र होते हैं बहुत घातक। सैनिक शस्त्रों का प्रयोग होते ही बहुत से प्राणियों की जान जोखम में पड़ जाती है, जिनमें से अनेक निर्दोष भी हो सकते हैं। एक बार बन्दूकों से गोलियाँ चलनी शुरू हुई, फिर यह कौन कह सकता है कि उनकी मार, छांट-छांट कर केवल

अपराधियों पर ही होगी ? मशीनगन और हवाई जहाजों से बरसते हुए गोले तो और भी अधिक अनर्थकारी होते हैं। शस्त्रों में विवेक बुद्धि तो है ही नहीं। वे तो निर्दोष बालकों, अनाथों, अबलाओं और बूढ़ों पर भी भयंकर निर्दयता करते हैं। और, चूँकि एक भी निरपराधी की हत्या करना या उसे दंड दिया जाना राज्य के लिए अभिशाप-स्वरूप है, और असाधारण स्थिति के हुए बिना वह कदापि क्षम्य नहीं है, अतः यह स्पष्ट है कि सैनिक शक्ति का प्रयोग केवल उसी दशा में किया जाना चाहिए, जब सभा ने भीषण रूप धारण कर लिया हो, उपस्थित लोगों को समुचित रूप से सूचित कर दिया गया हो, और उनसे मातृभूमि और कानून के नाम पर तितिर-बितर होने के लिए प्रार्थना की जा चुकी हो।

सैनिक शक्ति का संचालन पूरी सावधानी से होना चाहिए। उदाहरणवत् जब बंदूकें चलायी ही जाँय तो पहिले आकाश की ओर चलायी जाँय, जिससे किसी को आघात न पहुँचे, केवल भय का संचार हो जाय; पश्चात् बन्दूकों को पृथ्वी की ओर चलाया जाय, जिससे गोलियाँ एकत्रित भीड़ के आदमियों के पैरों में ही लगे। यदि इतने से ही आदमी सभास्थल से हटने लगें तो शान्ति-पूर्वक उन्हें ऐसा करने का यथेष्ट अवसर मिलना चाहिए। भीड़ से लौटते हुए मनुष्यों पर गोलियाँ चलाना अनुचित है, उसे दण्डनीय समझा जाना चाहिए। सैनिक शक्ति से पीड़ित व्यक्तियों को तथा मृत नागरिकों के संरक्षकों को अपना अभियोग न्यायालय में उपस्थित करने का अधिकार होना चाहिए। इन सब बातों के समावेश पूर्वक यथेष्ट कानून बना रहने, तथा उस पर निष्पक्षता पूर्वक अमल होते रहने की अत्यन्त आवश्यकता है। निदान, अधिकारियों द्वारा ऐसे कानून का दुरुपयोग होने का अवसर न आना चाहिए कारण, दुरुपयोग होने से संसार के विविध देशों में भयंकर हत्याकांडों का दुखदायी अनुभव हुआ है।

सभा भंग करने के अवसर बहुत कम आने चाहिएँ— हमने सभा भंग करने के विषय में विचार किया है। ऐसा अवसर विशेष दशा में ही आना चाहिए। यदि साधारण दशा में, शासकों को बारबार सभा भंग करनी पड़ती है, तो स्पष्ट है कि वे नागरिकों के लोकमतानुसार कार्य नहीं कर रहे हैं; उनकी कार्यपद्धति में गहरा दोष है। शासन रुग्न अवस्था में है, और नागरिकों की सभाएँ उस भयानक रोग का बाहरी लक्षण है। ऐसी दशा में राज्य का, सभा भंग करके केवल बाहरी लक्षण को मिटा देना पर्याप्त नहीं है। उसे असली रोग के निवारण के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए। जिससे रोगका लक्षण स्वतः जाता रहे। सभा भंग करने की नौबत ही न आवे।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि यदि सभा भंग करने से शासक यह समझते हैं कि लोगों का एकत्र होना और विचार-विनिमय करना बन्द हो जायगा, तो अधिकतर दशाओं में उनका उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। आदमी सभा करने से नहीं रुकते; हाँ, सभाओं का स्वरूप और उनके करने की पद्धति में अन्तर आ जाता है। वे एक बड़ी सभा के बजाय दस छोटी-छोटी सभाएँ करते हैं, और एक सभा के समाचार दूसरी के पास पहुँचाते हैं। वे खुल्लम-खुल्ला सभा न कर सकने पर गुप्त स्थानों का आश्रय लेते हैं। उन्हें असुविधाएँ और कष्ट होते हैं। पर वे इसे सहन करते हैं। वे दुस्साहस करते हैं; संकट झेलते हैं। इससे राज्य के प्रति उनका विरोध-भाव और अधिक होता है। यह बात राज्य के लिए अन्त में अहित-कर ही होती है। इसलिए जहाँ तक सम्भव हो, नागरिकों के सभा करने के अधिकार की रक्षा होती रहनी चाहिए।

सातवाँ अध्याय

सामाजिक स्वतन्त्रता

"जहाँ पर कोई श्रेणी, कोई परिवार, या कोई मनुष्य कल्पित दैवी अधिकार से या जन्म (वंश), या धन के कारण दूसरों पर प्रभुता प्राप्त कर लेता है, वहाँ स्वाधीनता नहीं होती। स्वाधीनता सब के लिए, और सब की दृष्टि में होनी चाहिए।"

—मेजिनी

साधारणतया लोगों का विचार होता है कि नागरिकों की सामाजिक स्वतंत्रता का सम्बन्ध समाज से होता है, राज्य से नहीं। परन्तु यह विचार कुछ अंश में ही सत्य है, पूर्ण सत्य नहीं। इस बात को इस अध्याय में आगे स्पष्ट किया जायगा। वहाँ यह भी बतलाया जायगा कि कुछ दशाएँ ऐसी हैं कि समाज अपने सदस्यों की स्वाधीनता अपहरण कर लेता है, फिर उन व्यक्तियों को राज्य की शरण लेनी पड़ती है, जिससे वह उनके अधिकारों की रक्षा करे। यही कारण है कि सामाजिक स्वतंत्रता के विषय को समाजशास्त्र के अन्तर्गत मानते हुए भी, इसका एक सीमा तक नागरिक शास्त्र में विवेचन करना आवश्यक है।

नागरिकों की सामाजिक स्वतंत्रता का अभिप्राय यह है कि वे साधारणतया अपनी इच्छानुसार खानपान, वस्त्राभूषण, रहनसहन आदि रख सकें, उनके विवाह-शादी, उनके बालकों के भरणपोषण, रीति-रस्म, खेलकूद तथा स्वदेश या विदेश में जाने-आने में भी राज्य या समाज की ओर से कोई अनुचित बाधा न हो।

सामाजिक स्वतंत्रता सम्बन्धी अन्य बातों का विचार करने से पूर्व

यह बतलाना आवश्यक है कि मनुष्य और समाज का परस्पर क्या सम्बन्ध है, समाज का उद्देश्य क्या होता है, और वह किस अवस्था में कहाँ तक पूरा होता है।

मनुष्य और समाज—यद्यपि मनुष्य अपने जन्म के समय तथा बाल्यावस्था में निर्बल, कमसमझ और दूसरों के आश्रित या अधीन होता है, उसमें बलवान, ज्ञानवान, और पूर्ण होने की भावना होती है। ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता है, उसकी यह भावना बढ़ती जाती है। उसे स्वाधीन होने की आवश्यकता का अनुभव होता है। वह पराधीनता के बन्धनों को तोड़ देना चाहता है। इसी विचार को लक्ष्य में रख कर यह कहा जाता है कि मनुष्य जन्म से स्वाधीन है। वह भौतिक, मानसिक और नैतिक उन्नति का अभिलाषी होता है, इसके लिए उसे अधिक-से-अधिक स्वाधीनता की आवश्यकता मालूम होती है। इसी लिए वह समाज और राज्य की रचना करता है। परन्तु वह इनके बन्धनों को उस सीमा तक ही स्वीकार करता है, जहाँ तक वे उसकी उन्नति और विकास में सहायक हों। वह यथाशक्ति इनका भी सुधार और संशोधन करने का इच्छुक होता है। कोई भी समाज कभी पूर्ण नहीं होता, उसमें सदैव परिवर्तन और सुधारों की आवश्यकता होती है, और होते रहते हैं। इन परिवर्तनों और सुधारों को मनुष्य ने किया है। इस प्रकार मनुष्य का अधिकार है कि वह किसी समाज या राज्य की तत्कालीन परिस्थिति से न बँधा रह कर उसका यथेष्ट संशोधन करता रहे। वह, समाज बिना अच्छी तरह जीवन व्यतीत नहीं कर सकता, इसलिए, उसे कभी समाज या राज्य को विध्वंस करने की कल्पना नहीं करनी चाहिए। परन्तु, चूँकि समाज व्यक्तियों की उन्नति और विकास के लिए एक साधन मात्र है, इसलिए इस साधन का स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि वह अपने उद्देश्य की भली भाँति पूर्ति करता रहे। समाज-रूपी साधन का उपयोग उस सीमा तक ही होना चाहिए, जहाँ तक वह लाभकारी हो। इसका अभिप्राय यह है कि

समाज का, व्यक्ति पर जो अधिकार है, उसकी एक सीमा है, उसका अपनी मर्यादा से बाहर होना उचित नहीं। अच्छा, अब यह विचार करें कि व्यक्ति पर समाज के अधिकार की सीमा क्या है ?

समाज और व्यक्ति—इस पुस्तक के आरम्भ में इस बात का उल्लेख हो चुका है कि हमारे जीवन के दो भाग किये जा सकते हैं, एक, व्यक्तिगत, जिसका सम्बन्ध केवल हमसे ही है; दूसरा सामाजिक, जिसका सम्बन्ध समाज के अन्य व्यक्तियों से भी है। अब यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि हम पर समाज का अधिकार केवल उस सीमा तक ही हो सकता है, जहाँ तक हमारा जीवन सामाजिक है, अथवा उसका प्रभाव समाज पर पड़ता है। समाज को हमारे व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप न करना चाहिए। हमें ऐसे कार्य करने में स्वतंत्र रहना चाहिए, जिनसे हमारा ही सम्बन्ध है। हमें अपना भला-बुरा सोचने और आवश्यक कार्य करने देना चाहिए; ऐसा न होना चाहिए कि हमारे लिए प्रत्येक बात समाज के नियमों द्वारा नियंत्रित रहे, और हम पद-पद पर अपने तईं उसके बन्धनों से जकड़े हुए पावें।

समाज का उद्देश्य—समाज-रचना का उद्देश्य यह होता है कि वह लोगों की व्यक्तिगत तथा सामूहिक उन्नति और विकास में समुचित रूप से सहायक हो। यह उद्देश्य उसी समय तक पूरा होता है, जब तक कि समाज जीवित अर्थात् प्रगतिशील हो, वह अपनी स्वाभाविक स्थिति में हो, व्यक्तियों को विचार-स्वतंत्रता हो, वे अपनी आवश्यकता के अनुसार अपनी कार्य-प्रणाली में समय-समय पर संशोधन कर सकें, वे अंध-परम्परा और रूढ़ियों के दास न हों।

जीवित तथा प्रगतिशील समाज सदैव महत्वपूर्ण सार्वजनिक तथा उपयोगी प्रश्नों पर ही ध्यान देता है। उदाहरण के लिए वह विचार करता है कि कोई व्यक्ति दूसरों के प्रति कहाँ तक सहयोग और सहानुभूति का व्यवहार करता है, वह अन्याय या अनीति से दूसरों की

हानि तो नहीं करता, अथवा अपने दुश्चरित्र से दूसरों के लिए बुरी मिसाल तो नहीं रखता।

अवनत समाज—इसके विपरीत, अवनत अवस्था का समाज अपनी शक्ति क्षुद्र या अनुपयोगी कार्यों में व्यय किया करता है, वह व्यक्तियों के रोजमर्रा के कामों में अनावश्यक बाधाएँ डालता है, और अपना असली उद्देश्य पूरा नहीं करता। उदाहरण के लिए हम देखते हैं कि भारतवर्ष में कुछ समाजें अपने आदमियों के बारे में तरह-तरह की रीति-रस्मों और बंधनों का ही विचार किया करती हैं—चौके चूल्हे के नियम क्या हों, किसके हाथ का बना या छुआ हुआ भोजन खाया जाय, और किसके हाथ का न खाया जाय, किस जाति के आदमियों को अस्पृश्य (न छूने योग्य) समझा जाय, किस जाति उपजाति या बिरादरी में, और कैसे मुहूर्त में विवाह करना चाहिए, और शादी-विवाह या जन्म-मरण आदि के सम्बन्ध में, किस प्रकार कितना खर्च या कैसा व्यवहार करना चाहिए।

समाज-सुधार में राज्य का भाग—जब समाज ऐसी अवनत अवस्था में हो तो विचार-स्वातंत्र्य-प्रेमी नागरिकों को शीघ्र सुधार का मार्ग अवलम्बन करना चाहिए। समाज-सुधार के लिए सामाजिक आन्दोलन करना होता है। सुधार के लिए लेखों, व्याख्यानों तथा उदाहरणों से लोकमत तैयार करना जरूरी है; परन्तु अनेक बार ऐसी स्थिति हो जाती है कि राज्य की सहायता बिना वह आन्दोलन सफल नहीं होता। अवश्य ही हम इस बात के समर्थक नहीं कि प्रत्येक सामाजिक सुधार के लिए राज्य के नियमों या कानूनों का आश्रय लिया जाय, परन्तु यह भी तो निर्विवाद है कि कुछ दशाओं में राज्य की सहायता अनिवार्य हो जाती है, तब उसे लेने में कोई आपत्ति होनी चाहिए। कुछ उदाहरणों द्वारा यह विषय साफ हो जायगा।

प्रत्येक नागरिक को अधिकार है कि वह विवाह के आदर्श तथा

उद्देश्य को, तथा अपनी परिस्थिति को ध्यान में रख कर, चाहे तो कुंआरा रहे या अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी जाति या धर्म के व्यक्ति से विवाह करे। उसके बड़े, बुजुर्ग तथा हितैषी उसे इस विषय में समुचित परामर्श दे सकते हैं। परन्तु उसे इस बात के लिए बाध्य करना कि वह विवाह अवश्य ही करे, या अपने जीवन का साथी, (पत्नी या पति) किसी खास क्षेत्र से, विशेषतया किसी बहुत संकुचित या परिमित जाति-बिरादरी से ही चुने, सर्वथा अनुचित है।

यदि कोई विधवा या विधुर अपना पुनर्विवाह करना चाहे तो जब तक उनके ऐसा करने से उनकी या सर्वसाधारण की हानि न हो तथा कोई अनुचित उदाहरण उपस्थित न होता हो, तो उनके ऐसा करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं की जानी चाहिए। जब समाज इस सिद्धांत की अवहेलना करता है, और सुधारकों की बात सुनकर अपने दुराग्रह पर अड़ जाता है, तो राज्य के द्वारा इस विषय का आवश्यक कानून बन जाना ठीक ही है। इसी प्रकार यदि किसी देश में विवाह सम्बन्धी अन्य कुरीतियाँ प्रचलित हों, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह और अनमेल-विवाह या बहु-विवाह की कुप्रथाएँ भयंकर अनिष्ट कर रही हों, और समाज की ओर से उनको रोकथाम न होती हो, तो राज्य को इन्हें कानून बनाकर बन्द कर देना उचित है। इसी प्रकार तपेदिक (क्षय रोग) आदि घातक बीमारियों में ग्रस्त युवक-युवतियों के विवाह बन्द कर देना भी अनुचित नहीं, वरन् उपयोगी है।

भारतवर्ष में समय-समय पर सामाजिक विषयों के सम्बन्ध में राज्य के नियम प्रचलित हुए हैं। सती-दाह और कन्यावध यहाँ कानून द्वारा ही रोका गया था। कुछ वर्ष से इस आशय का कानून बना हुआ है कि कम से कम कितनी उम्र के लड़के और लड़कियों के विवाह हो सकते हैं। किसी-किसी दशा में राज्य द्वारा जाति-भोज में होनेवाले अपरिमित खर्च को भी नियंत्रित किया गया है।

इन विषयों का सम्बन्ध सर्वसाधारण से है। अब स्त्रियों और दलित व्यक्तियों के सम्बन्ध में कुछ विशेष विचार किया जाता है।

स्त्रियों की स्वतन्त्रता—दूसरी जगह बताया गया है, कि प्रायः सब देशों में स्त्रियों को बहुत कम अधिकार रहे हैं। उन्हें सामाजिक स्वतन्त्रता भी बहुत कम रही। यहाँ तक कि प्रायः उनकी दशा उस रोगी की तरह हो गयी, जो बहुत दिन तक बीमार पड़े रहने के कारण रोग का आदी हो जाय; उसमें यह अनुभव करने की शक्ति ही न रहे कि उसे कोई रोग है, और उसे उसका इलाज करना आवश्यक है। इस समय कुछ-कुछ जाग्रति हो रही है, तथापि भारतवर्ष आदि देशों में, अभी बहुत-कुछ कार्य होना शेष है। यहाँ उनके उत्थान में समाज सामूहिक रूप से सहायक नहीं हो रहा है, वरन् कहीं-कहीं तो उनके मार्ग में व्यर्थ के रोड़े अटकाये जा रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में राज्य को उनके हितार्थ यथेष्ट सहानुभूति रखनी चाहिए, जिससे वे उस स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकें, जो उनके विकास एवं राज्य की उन्नति के लिए आवश्यक है।

दलितों की स्वतंत्रता—सामाजिक संगठन का आधार समानता होना चाहिए, समाज में सब व्यक्तियों को अपनी-अपनी उन्नति करने का समान अवसर मिलना चाहिए, और सब के साथ उनकी योग्यता के अनुसार समान व्यवहार होना चाहिए। उनके जन्म या जाति के आधार पर उनके पद या मान आदि में ऊँच-नीच का भेद-भाव न होना चाहिए। खेद है कि प्रायः हरएक देश में इसके विपरीत व्यवहार किया जा रहा है। सब जगह दलितों का प्रश्न मौजूद है। भारतवर्ष आदि कुछ देशों में जाति के विचार से, और अमरीका आदि अन्य राज्यों में वर्ण या रंग के विचार से, कुछ आदमी दलित हैं। इन्हें सामाजिक स्वतन्त्रता प्रायः कुछ भी नहीं है, इनका धन और शक्ति समाज के अन्य लोगों के उपयोग की वस्तु मानी जाती

हैं। इन्हें अपना विकास करने का अवसर नहीं मिलता। यही नहीं, इन्हें दैनिक जीवन के अनेक कार्यों में पद-पद पर विविध कठिनाइयों का सामाना करना पड़ता है। उदाहरण के लिए धनाभाव के कारण इनके अपने कुएँ, विद्यालय, धर्मशाला, मन्दिर, उपवन आदि नहीं होते, और यदि ये लोग सार्वजनिक कुओं आदि का उपयोग करना चाहते हैं तो अन्य नागरिक इन्हें तङ्ग करते हैं। कहीं-कहीं तो वे इन्हें सार्वजनिक सड़कों पर चलने आदि से भी रोकते हैं। ऐसी दशा में राज्य का कर्तव्य है कि अन्य नागरिकों पर, इस विषय में यथेष्ट नियंत्रण रखे, तथा दलितों की सुविधाओं और उन्नति के लिए यथेष्ट साधन प्रस्तुत करे।

वर्तमान परिस्थिति में समाज और राज्य दलितों की ऊँचे दर्जे की सेवा से वंचित रहते हैं। यदि इन्हें सामाजिक स्वतन्त्रता यथेष्ट रूप से मिले, और ये अपनी यथाशक्ति उन्नति कर सकें तो न-जाने इनमें से कितने व्यक्ति ऐसे निकल आवें, जिनके कारण समाज और राज्य का बहुत कल्याण हो, और जो इनका मस्तक ऊँचा करने वाले बनें।

मादक पदार्थों का सेवन—क्या नागरिकों को स्वेच्छानुसार अफीम, भंग, चरस, शराब आदि मादक पदार्थों के सेवन की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए? ये चीजें किसी-किसी बीमारी में दवा के तौर पर भी काम आती हैं, परन्तु आदमी इनका अधिकतर सेवन शौकिया करते हैं। उन्हें देखादेखी आदत पड़ जाती है, और वे अधिकाधिक नशा करने लगते हैं। इससे उनका धन नष्ट होता है, तथा शरीर निर्बल, एवं विविध रोगों का शिकार बन जाता है। इसलिए अमरीका आदि राज्यों में मादक पदार्थों के उपयोग से होनेवाली हानियाँ सर्वसाधारण को भली भाँति समझायी जाती हैं; यही नहीं, वहाँ इनके उपयोग पर कड़ा नियंत्रण रखा जाता है, इनकी उत्पत्ति तथा आयात बहुत ही कम होने दी जाती है, और नागरिकों को कुछ खास बीमारियों के

अतिरिक्त, साधारण अवसरों पर स्वच्छन्दता पूर्वक सेवन करने की अनुमति नहीं रहती।

इसके विपरीत, अनियंत्रित राज्यों में सरकार विशेषतया इस मद से होनेवाली आमदनी के लोभ में पड़कर मादक वस्तुओं का खर्च कम कराने के लिए कुछ उद्योग नहीं करती। वह यह तर्क उपस्थित करती है कि सर्वसाधारण में इन वस्तुओं की आवश्यकता है और उसकी पूर्ति करना राज्य का कर्तव्य है, इन चीज़ों की बिक्री बन्द कर देना इनके सेवन करनेवालों की स्वाधीनता में बाधा डालना, उन्हें कष्ट पहुँचाना तथा उनके प्रति अन्याय करना है। कहना नहीं होगा कि यह तर्क अशुद्ध और अनिष्टकारी है। नागरिकों की स्वाधीनता स्वतः कोई साध्य नहीं है, वह तो एक साधन मात्र है, जिसका लक्ष्य है नागरिकों के जीवन की उन्नति और उनकी शारीरिक, मानसिक आदि शक्तियों का विकास। जो स्वाधीनता इस लक्ष्य की प्राप्ति में बाधा डालती है, वह कभी मान्य नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार नागरिकों में नशेबाजी बन्द करने का प्रयत्न होना चाहिए। हाँ, जो नागरिक इस दुर्व्यसन में बुरी तरह फँस चुके हैं, उनका एकदम इससे छुटकारा पाना कठिन है, उन्हें अपना क्रमशः सुधार करने के लिए कुछ मोहलत दी जा सकती है। अस्तु, प्रत्येक दशा में, वास्तविक लक्ष्य को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

बालकों का भरण-पोषण आदि—प्रत्येक नागरिक को अधिकार है कि वह अपने बालकों की हित-चिन्तना करता हुआ उनका भरण-पोषण जिस तरह उचित और उपयोगी समझे, करे; और राष्ट्रीय, सरकारी, अर्ध-सरकारी आदि जिस प्रकार की शिक्षा-संस्थाओं में चाहे प्रवेश कराके उन्हें धार्मिक, साहित्यिक या औद्योगिक आदि शिक्षा दिलाये। इसी प्रकार उनके स्वास्थ्य, मनोरंजन, आदि के लिए विविध प्रकार के साधनों की योजना करने में भी वह स्वतंत्र है। दूसरे आदमी उसे परामर्श भले ही दें, परन्तु किसी व्यक्ति को, अथवा

समाज को उसके इस कार्य में जाति, सम्प्रदाय या परम्परा आदि के के नाम पर, हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं। हाँ, यदि कोई नागरिक अपने बालकों को बिलकुल पढ़ाना ही न चाहे तो राज्य इसमें हस्तक्षेप करके उन बालकों को प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कराने के लिए उसे बाध्य कर सकता है।

यात्रा सम्बन्धी अधिकार—नागरिकों को यह अधिकार है कि वे आवश्यकतानुसार जब कभी और जहाँ कहीं स्वदेश या विदेश में जाना चाहें, स्वेच्छा-पूर्वक जा सकते हैं। युद्ध अथवा अन्य विशेष संकट के समय की बात अलग है। साधारण, शांति की दशा में नागरिकों को विदेशों में कहीं भी जाने के लिए पासपोर्ट अर्थात् सरकारी अनुमति मिलने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

जिस राज्य के नागरिक अपने देश के शासन-प्रबन्ध से संतुष्ट नहीं होते, उसे यह शंका रहती है कि प्रभावशाली नागरिक देश में एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर कहीं वहाँ की जनता को राज्य के विरुद्ध उत्तेजित न कर दें, या विदेशों में जाकर उस राज्य की निन्दा न करें। इसलिए उस राज्य को अपने प्रभावशाली नागरिकों को स्वदेश में स्वेच्छा-पूर्वक घूमने की अनुमति देने, या विदेशों में जाने के लिए पासपोर्ट देने में बड़ी हिचकिचाहट होती है। परन्तु इससे उस राज्य की अयोग्यता ही प्रकट होती है। उसे अपने शासन-कार्य की त्रुटियाँ दूर करके अपने नागरिकों को संतुष्ट करने का यत्न करना चाहिए।

यदि राजप्रबन्ध ठीक है, लोकमत के अनुसार है, तो राज्य के नागरिकों की यात्रा के सम्बन्ध में कुछ चिन्ता करना ही व्यर्थ है। बुद्धिमान नागरिक उस राज्य के विरुद्ध स्वदेश में जनता को उत्तेजित करने या विदेशों में उनकी निन्दा करने का घृणित कार्य नहीं करते, यदि कोई मूर्ख नागरिक ऐसा करे भी, तो सब विचारशीलों की सहानुभूति राज्य के साथ रहने से, उसका कुछ प्रभाव नहीं पड़

सकना। इस प्रकार, साधारणतः नागरिकों को देश विदेश में यात्रा करने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए।

अस्तु, इस अध्याय में हमने विविध उदाहरणों द्वारा यह बतलाया है कि नागरिकों को सामाजिक स्वतन्त्रता का कैसा और कहाँ तक अधिकार होना चाहिए। संक्षेप में कह सकते हैं, कि जहाँ तक सामूहिक हित का सम्बन्ध हो, राज्य इस विषय में आवश्यकतानुसार नियंत्रण करे; अन्यथा, साधारण स्थिति में नागरिकों की सामाजिक स्वतन्त्रता में यथा-सम्भव कोई विघ्न बाधा न रहनी चाहिए।

आठवाँ अध्याय

धार्मिक स्वतंत्रता

"जब तक धर्म उत्तम नागरिक उत्पन्न करता है, वह बहुत ठीक है; परन्तु जब वह दूसरों की स्वाधीनता में बाधा डालता है, उस समय वह बड़ा घृणास्पद वस्तु बन जाता है।"

—देवदत्त

मनुष्यों का अति प्राचीन काल से, सम्भवतः सामाजिक जीवन के आरम्भ होने के समय से, धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इस समय भी विविध देशों के अधिकांश आदमी किसी-न-किसी धर्म को मानने वाले पाये जाते हैं। ऐसे आदमियों की संख्या बहुत कम है, जो किसी भी धर्म के अनुयायी न हों; जो परमात्मा, किसी देवी-देवता, पीर पैगम्बर या अलौकिक शक्ति के किसी-न-किसी रूप में श्रद्धा और विश्वास

न रखते हों। बहुधा उनके धार्मिक विचारों का सम्बन्ध उनके व्यक्तिगत जीवन तक ही परिमित न रहकर, उनका प्रभाव प्रतिदिन होनेवाले विविध सामाजिक व्यवहारों पर भी होता है। इसलिए समाज और राज्य को धर्म-सम्बन्धी विषयों के भी कुछ नियम बनाने आवश्यक होते हैं। यही कारण है कि नागरिकों के अधिकारों और कर्तव्यों में इस विषय का विवेचन अनिवार्य है।

एक अनिष्टकारी भूल—इस संसार में मनुष्यों का जीवन कैसा सुखमय होता, यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी बुद्धि के अनुसार धार्मिक विश्वास रखता, और वह अपना मत दूसरों पर जबरदस्ती लादने का प्रयत्न न करता। परन्तु, यह हुआ नहीं है। अनेक स्थानों में, समय-समय पर, बहुत से आदमियों ने यह समझा कि हमारा ही धर्म सच्चा है, हम ठीक मार्ग पर हैं, और दूसरे आदमी गलत रास्ते जा रहे हैं, उनको उस रास्ते से न जाना चाहिए, उन्हें हमारे ही विचारों को सत्य समझना चाहिए। इन लोगों ने निश्चय किया कि यदि दूसरे आदमी हमारे धर्म में विश्वास न करें तो हमें उनको तरह-तरह से सताना और दुख देना चाहिए; तथा छल, बल, लोभ अत्याचार से, जैसे-बने उन्हें इस बात के लिए बाध्य करना चाहिए कि वे हमारे ही मत को स्वीकार करें। इन लोगों ने यह नहीं सोचा कि हमारे मत में भी कोई त्रुटि हो सकती है, और दूसरे के मत में भी सचाई होना सम्भव है; कोई एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह संसार के सब ज्ञान का ठेका नहीं ले सकता।

इसका भयंकर परिणाम—इस प्रकार, जब कुछ सत्ताधारी बलवान आदमी यह मान लेते हैं कि केवल हमारा ही धर्म सच्चा है, और दूसरे सब धर्म झूठे हैं, तो इसका परिणाम बड़ा भयंकर होता है। संसार का, और खासकर योरप का, इतिहास इसकी प्रबल साक्षी या गवाही है। भिन्न-भिन्न देशों में केवल धार्मिक मत-भेद के कारण कितने ही नरमेध या कत्ल-आम किये गये; अबोध बालक-बालिकाओं

और शान्ति-प्रिय स्त्रियों और वृद्धों को बुरी तरह सता-सताकर मौत के घाट उतारा गया। गृहस्थों की सम्पत्ति का लुट जाना, उनका बेघर का होकर दर-दर मारे-मारे फिरना साधारण घटनाएँ रही हैं। इन सब लोगों का 'अपराध' केवल यह था कि इनके धार्मिक विश्वास सत्ताधारियों से भिन्न थे।

आश्चर्य और दुःख की बात है कि जिन महापुरुषों को अब कई-कई करोड़ आदमी आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, जिनको याद करके अनेक आदमी साहस और उत्साह प्राप्त करते हैं, तथा सर्वस्व त्याग करने को तत्पर रहते हैं, उन महापुरुषों को अपने-अपने समय में बड़े-बड़े संकटों का सामना करना पड़ा, और यह केवल इसलिए कि वे अपने समकालीन सत्ताधारियों से भिन्न मत के थे, उनके विचार कुछ आगे बढ़े हुए थे। महात्मा सुकरात को ज़हर दिया जाना, मोहम्मद साहब का आत्मरक्षा के लिए मक्का छोड़कर मदीना आना, हज़रत ईसा का सूली पर चढ़ाया जाना—लोगों के अपने-अपने धार्मिक विश्वास के मिथ्याभिमान और अहंकार के ही परिणाम हैं। उनके समय में आदमी धार्मिक स्वतंत्रता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते थे; अब भी बहुत से स्थानों में धार्मिक-स्वतंत्रता की बड़ी कमी है।

धार्मिक स्वतंत्रता: इसकी मर्यादा—धार्मिक स्वतंत्रता का अभिप्राय यह है कि नागरिक चाहे जिस अवतार, पीर, पैगम्बर आदि को मानें, या किसी को न मानें; मन्दिर या मसजिद आदि में जावें, या घर में ही बैठकर भजन-पूजा करें; वे जब चाहें, अपने पुराने मत या मजहब को बदल कर नया धारण करलें। इन बातों में कोई आदमी न हस्तक्षेप करे, न भय दिखलावे, या किसी प्रकार का प्रलोभन दे। नागरिकों को अपना मत या मजहब मानने की स्वतंत्रता है। हाँ, उनके अन्य अधिकारों की भाँति, धार्मिक स्वतंत्रता की भी समुचित मर्यादा रखी जानी आवश्यक है। किसी नागरिक के धर्म का सम्बन्ध केवल उस नागरिक और परमात्मा से होना चाहिए। पर इसकी बुद्धि

से तथा अपने वातावरण के कारण जिस प्रकार के विचार रखना चाहे, रखे। परन्तु उसके किसी विचार के कारण दूसरे नागरिकों की मनोवृति बिगड़ने का अवसर नहीं आने देना चाहिए। उसे यह अधिकार नहीं है कि वह दूसरों में अन्ध-श्रद्धा बढ़ावे या दूसरों के अन्ध-विश्वासों से अनुचित लाभ उठावे।

राज्य का कर्तव्य—राज्य को चाहिए कि नागरिकों की सामूहिक सुविधाओं का ध्यान रखकर समुचित तथा निष्पक्ष नियम बनावे। जब धर्म नागरिकों की सुख-शान्ति में बाधक हो या उसकी किसी माँग का नागरिक अधिकारों से संघर्ष हो तो राज्य देश-हित तथा व्यक्तियों के सार्वजनिक अधिकारों की रक्षा करे। परन्तु इसके अतिरिक्त उसे नागरिकों के धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। यह तो उनका व्यक्तिगत विषय है। राज्य के लिए सब नागरिक समान हैं, तो सब धर्म भी (जहाँ तक वे नागरिक जीवन के सुखपूर्वक प्रवाह में बाधक न हों) समान होने चाहिएँ। किसी धर्म विशेष को राज्य की खास सहायता या सहानुभूति मिलना, या किसी खास धर्म के मानने वालों के लिए ऐसे पद आदि सुरक्षित रखा जाना, जो उनके समान योग्यता होने पर भी दूसरे धर्मवालों को नहीं मिल सकते, सर्वथा अनुचित है।

प्रायः ये बातें आधुनिक उन्नत और विकसित राज्यों में मान्य होती हैं। तो भी एक बात विचार करने योग्य है। नागरिकों की धार्मिक स्वतंत्रता के सिद्धान्त का पूरे तौर पर पालन करने के लिए यह आवश्यक है कि किसी राज्य में कोई धर्म राजधर्म न हो, सरकार द्वारा किसी धर्म को कोई सहायता न दी जाय और न किसी खास धर्म के कारण किसी आदमी, जाति या समाज को कोई लाभ या हानि पहुँचायी जाय। इस बुनियादी सिद्धान्त का बहुत से उन्नत राज्य भी पालन नहीं करते। उदाहरण के तौर पर इंगलैंड में प्रोटेस्टेंट ईसाई मत को राजधर्म माना जाता है। वहाँ प्रत्येक बादशाह

को राजगद्दी पर बैठने के समय यह शपथ लेनी होती है कि वह प्रोटेस्टेंट मत का ईसाई है। यदि वह रोमन कैथलिक मत का ईसाई या किसी अन्य धर्म का अनुयायी हो तो वह राज्याधिकार से वंचित कर दिया जाता है। इस नियम का सम्बन्ध चाहे थोड़े ही व्यक्तियों से क्यों न हो, इस सिद्धान्त से रोमन कैथलिक ईसाई तथा अन्य धर्मों के अनुयायियों के वास्ते समानता का व्यवहार नहीं होता; और एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि वहाँ धार्मिक स्वतंत्रता में रुकावट लगायी हुई है।

प्राचीन काल में जब कोई धर्म राजधर्म होता था, तो उस धर्म को छोड़कर दूसरे धर्मों को माननेवालों के साथ तरह-तरह की बहुतसी सख्तियाँ की जाती थीं, यहाँ तक कि उन्हें राज्य में अपना जीवन-निर्वाह करना कठिन होता था। उन्हें हरदम यह शंका रहती थी कि न-मालूम कब क्या मुसीबत आ जाय। उसकी तुलना में, आजकल बहुत उदारता और सहिष्णुता है। आवश्यकता है, जो थोड़ी सी असमानता है, वह भी जाती रहे।

धर्म-प्रचार और धर्म-परिवर्तन—बहुधा नागरिकों के सामने किसी-न-किसी रूप में धर्म-प्रचार और धर्म-परिवर्तन की समस्या उपस्थित रहती है। इस विषय में न्याय की बात यह है कि प्रत्येक धर्मवालों को यह अधिकार रहे कि अन्य धर्मवालों को अपने धर्म की श्रेष्ठता समझावें, और उनके चाहने पर वे उन्हें अपने धर्म में मिला सकें। जो लोग दूसरों का धर्म बदलने के लिए जबरदस्ती करते या किसी प्रकार का प्रलोभन देते हैं, वे बराबर अपराधी हैं, और दंडनीय हैं।

जिस राज्य में नाबालिगों, अनाथों और विधवाओं आदि के जबरदस्ती धर्म-परिवर्तन किये जाने की घटनाएँ होती हों, वहाँ इस विषय का उचित कानून बन जाना आवश्यक है। अच्छा हो, यदि प्रत्येक नागरिक के विषय में विस्तृत रूप से, धार्मिक भावनाओं द्वारा, या

सरकारी तौर पर यह दर्ज रहे कि वह किस धर्म में है, अथवा रहना चाहता है। पश्चात् जब वह अपना धर्म बदलना चाहे तो जिसधर्म को छोड़े, तथा जिसे ग्रहण करे, उन दोनों धर्मों के अनुयायियों तथा कुछ अन्य सज्जनों की उपस्थिति में ही उसे अपना धर्म बदलने की अनुमति मिले। अनाथ, नाबालिग या विधवाएँ उसी दशा में अपना धर्म बदल सकें, जब यह प्रमाणित हो जाय कि उन्हें कोई अनुचित प्रलोभन नहीं दिया गया है। इन में से जो व्यक्ति ऐसी व्यवस्था होने के समय विधर्मियों के अधीन हों, उन्हें वहाँ से लेकर उनके निकट सम्बन्धियों को दे दिया जाय, या उसी धर्म वालों के अनाथालय या विधवाश्रम में प्रविष्ट करा दिया जाय। यदि ऐसा न हो सके तो विशेष दशा में राज्य की ओर से उनके भरण-पोषण आदि की उचित व्यवस्था की जाय।

भारतवर्ष में तबलीग (धर्म-परिवर्तन) और शुद्धि के प्रश्न पर हिन्दू मुसलमानों में जो मनोमालिन्य है, वह देश भर के लिए उपर्युक्त आशय का कानून बन जाने से बहुत कुछ दूर हो सकता है।

सार्वजनिक संस्थाओं और सड़क आदि के उपयोग का अधिकार—प्रत्येक नागरिक को—वह चाहे जिस धर्म या मत को माननेवाला हो—अपने राज्य के समस्त न्यायालय, चिकित्सालय, और स्कूल आदि सार्वजनिक संस्थाओं और कुएँ तथा सड़क आदि के उपयोग का समान अधिकार है। जिन चीज़ों के बनाने और मरम्मत करने के लिए या जिन संस्थाओं के चलाने के लिए राज्य आवश्यक धन सर्वसाधारण द्वारा दिये हुए करों से प्राप्त करता है, उनके उपयोग करने में किसी को कुछ बाधा न होनी चाहिए, चाहे वह किसी भी धर्म या मत का माननेवाला क्यों न हो।

उदाहरण के लिए सड़कें या रास्ते (जो किसी खास व्यक्ति की भूमि में नहीं है) सार्वजनिक है; ये सर्वसाधारण के लिए खुली रहनी

चाहिएँ । किसी व्यक्ति या बिरादरी विशेष को इनके उपयोग की विशेष सुविधा देकर इनकी सार्वजनिकता नष्ट करनी अनुचित है । प्रत्येक नागरिक अपने आवश्यक सामाजिक या धार्मिक कार्यों के लिए उनका अकेला या समूह में, वहाँ की आमदरफ्त में बाधा न डालते हुए, उचित उपयोग कर सकता है । किसी को उन कार्यों में रुकावट पैदा करने का अधिकार नहीं है । यदि कोई आदमी या समूह उन को पसन्द नहीं करता, तो उसे चाहिए कि वह उनमें भाग न ले, अथवा वहाँ उपस्थित न रहे । यह स्पष्ट है कि सड़कों पर से जलूस निकालना, या बाजा, शङ्ख, घड़ियाल आदि बजाते हुए जाना नागरिकों का सामान्य अधिकार है । उनके किसी विशेष धर्म के अनुयायी होने से इस में कोई अन्तर नहीं आता ।

[भारतवर्ष में अनेक धार्मिक कृत्यों में जलूस या बाजे आदि की आवश्यकता होती है । कुछ मुसलमान इनसे अपनी नमाज (प्रार्थना) में विघ्न उपस्थित होने की आशंका से यह चाहते हैं कि मसजिदों के सामने, (जो अनेक स्थानों में सड़कों के किनारे हैं) ये कृत्य न किये जायँ । सड़कों के उपयोग सम्बन्धी यह प्रश्न यहाँ कई बार अदालत में गया । कई प्रांतों के हाईकोर्टों तथा इंग्लैंड की प्रिवी कौंसिल तक के फैसले से यह सिद्ध हो गया है कि जुलूस वैध हैं; किसी जाति या धर्म के आदमी दूसरी जाति या धर्म के आदमियों का बाजे के साथ जुलूस निकालना बन्द करने का अधिकार उपस्थित नहीं कर सकते । जो आदमी पूजा प्रार्थना आदि के समय बिलकुल शान्ति चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि बस्ती से बाहर एकान्त में पूजा आदि करें ।]

इस अधिकार की सीमा——नागरिकों के अन्य अधिकारों की भाँति इस अधिकार का उपभोग भी एक सीमा तक ही हो सकता है । सड़कों आदि का उपयोग कोई संस्था या समूह इस इरादे से नहीं कर सकता कि दूसरों को चिढ़ावे, कष्ट दे, या दैनिक जीवन के साधारण कार्यों में ख्वामख्वाह विघ्न उपस्थित करे । यह बात सदैव स्मरण रखने

की है कि नागरिकों को अपने प्रत्येक कार्य में यथासम्भव दूसरे नागरिकों की सुविधाओं, रुचि और मनोभावों का लिहाज रखना चाहिए। उदाहरण के लिए कोई आदमी सड़क पर, चाहे वह जगह उसके मकान के सामने ही क्यों न हो, पशु-वध नहीं कर सकता; मांस आदि के ठेले बिना ढके बाजार में से नहीं ले जा सकता। इसी प्रकार जिस बस्ती में निरामिषभोजी (मांस न खानेवाले) नागरिक रहते हों, वहाँ वध किये जाने वाले पशु को सजा कर उसका जुलूस निकालना, नागरिक दृष्टि से निषिद्ध है। यदि एक आदमी ने किसी की हत्या या अन्य दुष्कर्म किया है, और न्यायालय में उसका अभियोग चल रहा है, या वह अपराधी प्रमाणित हो गया है, तो उसकी जाति बिरादरी या धर्म-वालों का, उस अपराधी का जुलूस निकालना अनुचित है। धार्मिक स्वतन्त्रता के आधार पर ऐसे कार्यों के लिए अनुमति नहीं दी जा सकती।

उपसंहार—इस अध्याय को समाप्त करने से पहले हम पाठकों का ध्यान इस बात की ओर दिलाना चाहते हैं कि वे धर्म के व्यापक और उदार अर्थ को ग्रहण करें, और इसी अर्थ का दूसरों में प्रचार करें। हमारा धर्म हमारे नागरिक जीवन को सुखमय बनाने वाला होगा, तभी वह वास्तव में 'धर्म' नाम का अधिकारी होगा। धर्म की आड़ में क्षुद्र स्वार्थों और कुवासनाओं को सिद्ध करना, धर्म नहीं, बड़ा अधर्म है। दूसरों को कष्ट देना, दूसरों के जान-माल को हानि पहुँचाना हमेशा ही बुरा है, परन्तु जब यह काम किसी धर्माचार्य या धर्म-प्रवर्तक के सन्देश के आधार पर किया जाता है, तो यह बहुत ही घृणा या नफरत का काम हो जाता है; धर्म-प्रचारकों को इस विषय पर समुचित ध्यान देने की आवश्यकता है।

नवाँ अध्याय

आर्थिक स्वतंत्रता

काम-धन्धा करने की आवश्यकता—प्रत्येक नागरिक को अपने जीवन-निर्वाह के लिए विविध वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इनको कुछ अंश तक वह स्वयं पैदा या तैयार कर सकता है और कुछ अंश में उसे दूसरों की सहायता की आवश्यकता होती है। बहुधा हम ऐसी वस्तुओं का भी उपयोग करते हैं जो दूसरों की ही उत्पन्न की हुई या बनायी होती हैं। समाज में मनुष्यों का कार्य पारस्परिक सहयोग से ही चलता है। जब हम दूसरों की सहायता या दूसरों की वस्तुएँ लेते हैं, तो उनके बदले में हमें उनकी सहायता करनी या उन्हें उनकी आवश्यकता की वस्तुएँ बनाकर, या पैदा करके देनी होती हैं। निदान, अपने जीवन-निर्वाह के लिए हरेक आदमी को कुछ-न कुछ धन्धा करना जरूरी है।

आर्थिक स्वतन्त्रता का अधिकार—इसलिए राज्य की ओर से प्रत्येक व्यक्ति को यह सुविधा और अधिकार मिलना चाहिए कि वह दूसरों को हानि या कष्ट न पहुँचाते हुए अपने जीवन-निर्वाह के लिए नौकरी, व्यापार, खेती या मजदूरी आदि, जो काम उसे उचित जान पड़े, करे। जब उसका मन चाहे, वह अपने पहले धन्धे को छोड़कर दूसरा उसी प्रकार का या किसी नयी तरह का कार्य आरम्भ कर दे। वह किसी कार्य को करने या छोड़ने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। हाँ, यदि उसका किसी संस्था या कारखाने आदि से सम्बन्ध है, और जिस कार्य को वह पहले से करता आ रहा है, उसे एकदम छोड़ देने से दूसरों की हानि की सम्भावना है तो उसे अपने उच्च अधिकारियों को नियमानुसार एक मास या कुछ कम ज्यादा समय पहले इस विषय की सूचना दे देनी चाहिए। साधारणतया समाज के

ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके परिश्रम के अनुसार प्रतिफल मिले; यथाशक्ति परिश्रम करनेवाले व्यक्ति को अपने, तथा अपने आश्रित परिवार के व्यक्तियों के निर्वाह के यथेष्ट साधन तथा अपनी उन्नति के समुचित अवसर अवश्य मिल सकें। साथ ही, समाज में कोई आदमी ऐसा न होना चाहिए, जिसे बिना परिश्रम किये ही खाने-पहिनने और मौज उड़ाने के सब साधन मिल जाया करें। इस बात को यों कहा जा सकता है कि बोने की सब को स्वतन्त्रता रहे, पर जो जैसा बोये, वह वैसा काटे; जो व्यक्ति कुछ न बोये, उसे काटने का भी अधिकार न रहना चाहिए।

इस सिद्धान्त की अवहेलना—ये बातें ऐसी मामूली मालूम होती हैं, कि इनके जिक्र की ही आवश्यकता नहीं; फिर इन्हें स्पष्ट करने या इन पर कुछ तर्क-वितर्क होने की तो बात ही क्या। परन्तु जरा विचार करने पर यह ध्यान में आ जायगा कि व्यवहार में इन बातों का कितना उलंघन किया जा रहा है। कहने को तो आजकल दासता या गुलामी नहीं रही, परन्तु संसार के भिन्न-भिन्न स्थानों में यह बनी ही हुई है। बहुत से सभ्य कहे जानेवाले देशों में भी प्रतिज्ञा-बद्ध कुलीप्रथा है। साधारण भोले-भाले आदमियों को धोखा या प्रलोभन देकर निर्धारित समय तक काम करने के लिए राजी कर लिया जाता है। फिर उन्हें चाहे जो कष्ट या असुविधाएँ हों, उन्हें अपना कार्य छोड़ने की अनुमति नहीं होती। यदि वे छोड़ने का प्रयत्न करें तो कानून का फन्दा उनके लिए तैयार रहता है।

दलित जातियों के आदमी अपनी इच्छा के विरुद्ध भी खास-खास काम करने के लिए विवश होते हैं। कहा जाता है कि बहुत समय से ऐसा होता आ रहा है, और समाज की सुव्यवस्था के लिए यह आवश्यक है, इसलिए दलितों को आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। विचार करने की बात है, समाज के एक इतने बड़े अङ्ग को इस प्रकार पराधीन बनाये रखना कैसे न्यायोचित कहा जा सकता है!

जिन देशों में दलित जातियाँ नहीं हैं, सब को अपना कार्य करने की स्वतन्त्रता है, क्या वहाँ समाज का कार्य नहीं चलता? अतः सामाजिक सुव्यवस्था का नाम लेकर किया जाय, या प्राचीन रूढ़ि आदि की दुहाई देकर किया जाय; अन्याय वास्तव में अन्याय ही है। इसे दूर किया जाना चाहिए।

फिर, बहुत से किसान और मज़दूर दिन-रात परिश्रम करके भी खाने-पहिनने के लिए काफी सामान नहीं पाते। और, बहुत से आदमियों को जीवन-निर्वाह के लिए ही इतनी शक्ति और समय खर्च कर देना पड़ता है कि उन्हें अपनी उन्नति या विकास करने का कुछ अवसर नहीं मिलता। वे स्वतन्त्र रूप से न किसी विषय का विचार कर सकते हैं, और न कोई कार्य ही करने में समर्थ होते हैं। ऐसी दशा में उनकी सामाजिक या धार्मिक स्वतन्त्रता कैसे रह सकती है, और वे समाज या राज्य का क्या हित-साधन कर सकते हैं!

इसके विपरीत, कुछ जमींदार, महन्त या पूँजीपति आदि प्रत्येक राज्य में ऐसे भी देखने में आते हैं, जिन्हें अपने निर्वाह के लिए प्रायः कुछ भी मेहनत नहीं करनी पड़ती। उनकी अधीनता में दूसरे आदमी पसीना बहाते रहते हैं, और वे बैठे मौज मारते हैं। ये मुफ्त के खाने-वाले अपनी धन-सम्पत्ति की बदौलत समाज और राज्य में खूब प्रतिष्ठा और आदर पाते हैं; यही नहीं, ये राज्य का सूत्र बहुत-कुछ इस तरह चलाने में समर्थ भी होते हैं कि उनके नियमों से इनके स्वार्थों की रक्षा और वृद्धि होती है और ये आलसी और निकम्मे बने रहते हैं; इसके विपरीत, अन्य आदमियों को उठने या उन्नति करने का अवसर नहीं मिलता।

आर्थिक पराधीनता कैसे हटाई जाय?—इस प्रकार, आर्थिक स्वतन्त्रता न रहने से आदमियों का यथेष्ट विकास नहीं होता; और समाज और राज्य को पूरी शक्ति नहीं मिलती है, वे अपने आदर्श को प्राप्त नहीं कर सकते। अतएव: मनुष्यों की आर्थिक स्वाधीनता के लिए

प्रकार हटाया जा सकता है ? विचार करने से, आर्थिक पराधीनता का मूल कारण यह मालूम होता है कि कुछ व्यक्तियों ने श्रम, भूमि, पूँजी (मशीन, कारखाना) आदि धनोत्पत्ति के साधनों पर अपरिमित अधिकार प्राप्त कर लिया है, उन्होंने दूसरों के न्यायोचित स्वत्वों को छीन लिया है, और, समाज ने इस व्यवस्था को उचित मानकर जारी कर रखा है।

इस परिस्थिति का सुधार करने के लिए कई बातें विचारणीय हैं। पहले धनोत्पत्ति के साधनों पर विचार करते हैं। इनमें मुख्य भूमि और श्रम हैं; मूलधन तो श्रम का ही प्रतिफल है, जो उसी समय खर्च न किया जाकर भावी उत्पादन के लिए संचित करके रखा जाय। भूमि प्रकृति द्वारा दी हुई है। इस पर सब का समान अधिकार होना चाहिए। जो आदमी जितनी भूमि जोते-बोये, और समाज के लिए अधिक उत्पादक बनाये, उतनी ही भूमि पर उसका स्वत्व रहना उचित है। परन्तु होता क्या है ? अनेक आदमी इस प्रकार का कुछ कार्य न कर लम्बी चौड़ी भूमि के स्वामी बने हुए हैं। वे उस जमीन को खेती आदि के लिए दूसरों को दे देते हैं, और स्वयं लगान की आमदनी पर मौज उड़ाते हैं। यद्यपि इनकी आमदनी में से राज्य को भी अच्छा हिस्सा मिल जाता है, तथापि इनके पास काफी बच जाता है। जिन आदमियों में लगान देने की क्षमता नहीं होती, या जिन आदमियों के पास जमीन नहीं है, वे जहाँ-तहाँ कारखानों में या दफ़्तरों आदि में नौकरियों की खोज में फिरते रहते हैं और बहुधा बड़े कष्ट पाते हैं। इस परिस्थिति में काफी सुधार होने की आवश्यकता है।

पुनः समाज में श्रम की महत्ता का सिद्धान्त मान्य होना चाहिए। जो आदमी परिश्रम करे, समाज के लिए कोई उपयोगी वस्तु बनाये या मानसिक कार्य करके समाज की उन्नति में सहायक हो, उसे ही समाज में रहकर विविध मनुष्यों के सहयोग से बनाई वस्तुओं के उपयोग

का अधिकार होना चाहिए। अन्य मनुष्यों को, काम से जी चुरानेवालों को, आलसियों को यह अधिकार न होना चाहिए।

बेकारी कम करने का उपाय—साथ ही परिश्रमी मनुष्यों को अभाव या बेकारी की चिन्ता न होनी चाहिए। उन्हें निरन्तर यही सोचते रहने को मजबूर न होना चाहिए कि कल खाने-पीने को मिलेगा या नहीं; क्योंकि ऐसी दशा में वे अपनी या समाज की उन्नति नहीं कर सकते। योरपीय महायुद्ध से पहले बेकारी के जो अंक इकट्ठे किये जा सके थे, उनसे मालूम हुआ था कि संसार में कम-से-कम दो करोड़ आदमी बेकार हैं। पीछे इनमें से बहुत से आदमियों को सेनाओं के लिए सामान या युद्ध-सामग्री बनाने का काम मिल गया। पर वह काम तो अस्थायी था। अब युद्ध बन्द हो गया है। कुछ समय में बेकारी फिर बढ़ जायगी। संसार में फिर करोड़ों आदमी बेकार होंगे। इससे इस प्रश्न की जटिलता का अनुमान किया जा सकता है। बेकारों की सुविधा के लिए कुछ देशों में दरिद्रालय खोले जाते हैं, या बेकारी का बीमा होने की व्यवस्था की जाती है, जिसके अनुसार बेकार होनेवाले आदमी को कुछ ऐसा निर्धारित द्रव्य मिल जाता है, जिससे उसका निर्वाह हो सकता है। इन बातों से बेकारी का कुछ अंश में इलाज होता है—और जहाँ तक यह हो सके अच्छा ही है—परन्तु इससे मूल रोग का निवारण नहीं होता।

बेकारी को निवारण करने के लिए इसके मूल कारणों पर विचार करना होगा। और, ये मूल कारण सामान तैयार करने की विधि में ही मौजूद हैं। आजकल बड़े पैमाने से, यन्त्रों द्वारा आवश्यक पदार्थ तैयार किए जाते हैं; जो काम पहले हजार आदमी अपने-अपने घरों में हाथों से कर सकते थे, अब यंत्रों की सहायता से कारखानों में केवल दस आदमी कर सकते हैं, और वैज्ञानिक प्रगति से यह सर्वथा सम्भव है कि आगे यह काम एक-दो आदमियों से ही हो सकेगा। [illegible] आदमी कारखानों से खाली होते जाते हैं, इनमें बहुत [illegible]

कारखानों में या अन्यत्र नया काम मिल पाता है। इस प्रकार वर्तमान धनोत्पादन-विधि के रहते बेकारी का रोग दूर होने की आशा नहीं। इसलिए आवश्यक है कि यंत्रों द्वारा बड़े पैमाने पर सामान बनाने की प्रवृत्ति को नियंत्रित किया जाय; दस्तकारियों और कारीगरियों को बढ़ाया जाय। क्या वर्तमान सभ्यता में राज्य और समाजें इसके लिए तैयार हैं?

श्रमजीवियों का वेतन और उनके काम के घंटे—आर्थिक स्वाधीनता के सिद्धांत के अनुसार यह आवश्यक है कि मनुष्यों को अपने परिश्रम का यथेष्ट प्रतिफल मिले। वेतन की दर सदैव के लिए निर्धारित नहीं की जा सकती, और न यही कहा जा सकता है कि सबको समान वेतन मिलना ठीक होगा। परन्तु यह आवश्यक है कि समाज में कुछ आदमियों का वेतन अत्याधिक न हो, और सब आदमियों को इतना अवश्य मिल जाय जिसमें उनका साधारण रहनसहन के दर्जे के अनुसार निर्वाह हो सके और उन्हें स्वास्थ्य और मनोरञ्जन आदि के लिए आवश्यक विश्राम मिल सके। इस विचार को लक्ष में रखकर, भिन्न-भिन्न प्रकार के काम करनेवालों का न्यूनतम वेतन (जीवन-वेतन) जो देश-काल के अनुसार भिन्न-भिन्न होगा, कानून द्वारा निर्धारित होते रहना आवश्यक है। उपर्युक्त रहनसहन के दर्जे का विचार योग्य और निष्पक्ष सदस्यों द्वारा होना चाहिए।

इस प्रसंग में काम करने के घंटों का भी विचार हो जाना आवश्यक है। इस विषय में ध्यान में रखने की बात यह है कि जिस आदमी को सोचने विचारने का अवकाश नहीं मिलता, जो दिन-रात खाने-पहनने के लिए मेहनत मजदूरी करने में ही लगा रहता है वह अपनी शक्तियों का समुचित विकास या उपयोग नहीं कर सकता, वह समाज या राज्य की यथेष्ट सेवा नहीं कर सकता और इस प्रकार वह अपना नागरिक कर्तव्य-पालन करने में असमर्थ रह जाता है। आजकल साधारण शारीरिक कार्य करनेवालों के लिए प्रतिदिन सात-

आठ घंटे और मानसिक कार्य करनेवालों के लिए चार से छः घंटे तक कार्य करना उचित समझा जाता है। परन्तु बहुत से आदमियों को अपना तथा अपने परिवार का निर्वाह करने के लिए इससे बहुत अधिक समय काम करना पड़ता है, फिर भी कितने ही आदमियों का अच्छी तरह निर्वाह नहीं होता। अच्छा हो, यदि भविष्य में सभ्यता की वृद्धि से लोगों को अपना पेट पालने के काम में थोड़ा समय देने की आवश्यकता रहे, और वे अधिकाधिक समय अपनी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति के लिए निकाल सकें।

धनोत्पादन में नागरिकों के अधिकार— इस सम्बन्ध में यह भी विचार करने की बात है कि श्रम करने के सम्बन्ध में नागरिकों को स्वतंत्रता होनी चाहिए या नहीं। क्या वे केवल उन आज्ञाओं को पालन करनेवाले बने रहें, जो उन्हें अपने उच्च अधिकारियों द्वारा प्राप्त हों? क्या उच्च अधिकारियों को समय-समय पर श्रम सम्बन्धी नियमों के बनाने में श्रमजीवियों के प्रतिनिधियों का परामर्श न लेना चाहिए? हम समझते हैं कि जिस प्रकार नागरिकों को राज्य-सम्बन्धी नियमों के निर्माण के लिए अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होता है, कुछ-कुछ उसी रूप में श्रम-सम्बन्धी नियमों के विषय में श्रमजीवियों के प्रतिनिधियों से परामर्श का उपयोग हो तो बहुत से विवादग्रस्त विषयों का सहज ही निपटारा हो सकता है, हड़ताल और असन्तोष के अवसर कम हो सकते हैं, और मालिक और मजदूरों का पारस्परिक मतभेद बहुत-कुछ घट सकता है। मजदूरों के प्रतिनिधियों का सहयोग होने पर कारखानों सम्बन्धी जो नियम बनेंगे, वे श्रमजीवियों के लिए इतने असुविधाजनक न होंगे; उनका पालन वे सुगमता से, और अपनी इच्छा से कर सकेंगे। इसलिए औद्योगिक कार्यों में श्रमजीवियों का यह अधिकार स्वीकार करना और इसे धीरे-धीरे बढ़ाना उचित ही होगा। इससे धनोत्पत्ति में बाधा पहुँचने की आशंका करना निर्मूल है; और कदाचित इससे धनोत्पत्ति कुछ घट भी जाय तो उसकी अपेक्षा,

इससे नागरिकों की उन्नति में जो सहायता मिलेगी, वह कहीं अधिक मूल्यवान है।

ऊपर जो बात शारीरिक श्रम के सम्बन्ध में कही गयी है, वह बात मानसिक श्रम के विषय में और भी अधिक चरितार्थ होती है। इसलिए सम्पादकों, अध्यापकों, क्लर्कों आदि को भी अपने विभाग सम्बन्धी नियम-निर्माण में यथा-सम्भव प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया जाना चाहिए।

सम्पत्ति पर व्यक्ति और समाज का अधिकार—इस अध्याय में इस बात पर भी कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है कि किसी राज्य में जो सम्पत्ति उत्पन्न होती है, उस पर कहाँ तक व्यक्तियों का अधिकार है, और किस सीमा तक समाज का। यह तो स्पष्ट ही है, कि व्यक्ति जो धनोत्पत्ति करते हैं, वह समाज के सहयोग से ही करते हैं; समाज की सहायता बिना धन की वृद्धि या रक्षा होनी असम्भव है।

यदि सम्पत्ति पर व्यक्तियों का अधिकार रहता है तो कुछ व्यक्ति जरूरत से अधिक धनवान अर्थात् लखपति, करोड़पति हो जाते हैं, और दूसरे बहुत निर्धन रह जाते हैं। अकसर पूँजीपति, जमींदार या महन्त आदि समाज या राज्य के लिए कोई उत्पादक कार्य नहीं करते, वरन् अपनी विलासिता, शौक और ऐश्वर्य से अन्य नागरिकों के लिए बुरा उदाहरण उपस्थित करते हैं। साथ ही जब उनकी सम्पत्ति उनके उत्तराधिकारियों को बिना परिश्रम किये प्राप्त हो जाती है, तो वे भी उनकी तरह आलसी और मुफ्त की खानेवाले बन जाते हैं। श्रम की महत्ता का—जो समाज के लिए संजीवनी शक्ति का काम देती है—लोप हो जाता है। इसके विपरीत, अनेक निर्धन आदमी अपनी भोजन-वस्त्र सम्बन्धी आवश्यकताओं की भी पूर्ति नहीं कर पाते, उनका एक प्रकार से मनुष्यत्व ही नष्ट हो जाता है, उनकी विविध शक्तियों के विकास का मार्ग बन्द हो जाता है।

अब, कल्पना करो कि सम्पत्ति पर व्यक्तियों का अधिकार न होकर, समाज का हो। इस दशा में सब व्यक्तियों का अधिकार समान हो जायगा; धन-वितरण की विषमता से होनेवाली उपर्युक्त हानियाँ न रहेंगी। परन्तु क्या यह समता बहुत समय तक रहेगी! क्या यह स्वाभाविक है! जैसे पशुओं में छोटे-बड़े, निर्बल और बलवान होते हैं, वैसे ही मनुष्यों में कुछ कम योग्य और कुछ अधिक योग्य होते हैं, सब को उनके परिश्रम से प्राप्त सम्पत्ति में समान अधिकार मिलना कहाँ का न्याय है! जब आदमी देखेंगे कि सम्पत्ति के वितरण में ऐसा अन्याय होता है: कम पैदा करें या ज्यादह, मिलेगा उतना ही; तो फिर बहुत ऊँचे विचार और आदर्श वाले कुछ व्यक्तियों को छोड़कर क्या सर्व-साधारण धनोत्पत्ति के कार्य में बहुत-कुछ उदासीन न हो जायँगे? वे अपनी विशेष योग्यता या शक्ति का उपयोग क्यों करेंगे! क्या इससे व्यक्तियों के व्यक्तित्व का ह्रास न होगा!

सर्वोदय—इस तरह दोनों मतों में से किसी एक से यथेष्ट फल नहीं मिलता। आवश्यकता है कि दोनों के दुर्गुणों से बचते हुए यथासम्भव दोनों से लाभ उठाया जाय। इस विषय में महात्मा गांधी के विचार जानना उपयोगी होगा। उनकी विचार-धारा को 'सर्वोदय' कहते हैं। सर्वोदय में किसी भी आदमी के पास अपनी निजी सम्पत्ति हो सकती है, और उस सम्पत्ति का परिमाण भी चाहे जितना हो। हाँ, यह शर्त जरूर है कि सम्पत्ति का अधिकारी अपने आपको उस सम्पत्ति का ट्रस्टी या अमानतदार समझे और उसका उपयोग समाज की एक अमानत या धरोहर के रूप में करे; वह उसे अपने निजी भोग-विलास में खर्च न करे। अगर कोई धनी अपने धन के उपयोग में यह शर्त पूरी नहीं करता तो जनता को अधिकार है कि वह उसे ट्रस्टी न रहने दे; हाँ, इसमें अहिंसात्मक उपायों से ही काम लिया जाय। इस विषय पर खुलासा विचार हमारी 'मनुष्य जाति की प्रगति' में किया गया है।

दसवाँ अध्याय

शिक्षा-प्राप्ति

"सिद्धान्त का त्याग करने वालों की निन्दा की जाती है। पर हम यह नहीं ताड़ते कि यह दोष उनके स्वभाव का नहीं है, किन्तु यह वह दुर्बलता है जिसे मिटाने के लिए उन्हें शिक्षा नहीं मिली और न उन्हें आत्म-संयम का ही अभ्यास कराया गया।"

—स्वाधीनता के सिद्धान्त

कुछ सज्जनों का मत है कि नागरिकों को आवश्यक शिक्षा देना राज्य का कर्तव्य ही है, और प्रायः उन्नत राज्यों में यह होता ही है, अतः इसे नागरिक अधिकारों में सम्मिलित करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु भारतीय पाठकों के लिए हम इसका स्वतन्त्र विचार करना आवश्यक समझते हैं। और, जैसा कि आगे पढ़ने से मालूम होगा, इस सम्बन्ध में कई बातें बहुत विचारणीय हैं।

नागरिक और शिक्षा—नागरिकता चाहती है कि हम सार्वजनिक हित के लिए, राज्य में उपस्थित होनेवाले विविध प्रश्नों पर अपनी समुचित सम्मति दिया करें। हम इस बात पर प्रकाश डालें कि किन-किन बातों से राज्य की उन्नति हो सकती है; हमारी, नागरिक के नाते क्या आवश्यकताएँ हैं, उनकी राज्य को किस प्रकार पूर्ति करनी चाहिए। भिन्न-भिन्न विषयों में हमारा क्या अनुभव है। जो आदमी यह प्रकट नहीं कर सकता, वह न अपना काफी विकास कर सकता है, और न राज्य के लिए यथेष्ट उपयोगी बन सकता है।

नागरिक शिक्षा का आदर्श—हमारा यह आशय नहीं कि सब नागरिकों को मानसिक शिक्षण समान रूप से प्राप्त करने का

अधिकार है। तथापि कुछ शिक्षा ऐसी अवश्य है, जो प्रत्येक नागरिक को मिलनी ही चाहिए। यह न्यूनतम शिक्षा इतनी होनी चाहिए कि नागरिक विविध विषयों में अपना भला-बुरा सोच सके, जब किसी बात के दो या अधिक पक्ष उसके सामने आवें, तो वह उनके बारे में अपना उचित निर्णय दे सके तथा उनके सम्बन्ध में अपना कर्तव्य स्थिर कर सके। शिक्षा से नागरिकों में राष्ट्रीयता के भाव बढ़ने चाहिएँ, उनमें साम्प्रदायिकता या मत-मतान्तर के भेद-भाव न रहने चाहिएँ। उन्हें जानना चाहिए कि वे किसी धर्म या जाति-विशेष के लिए कदापि नहीं हैं, और न सिर्फ अपने लिए ही हैं। वे हैं अपने लिए और राज्य के लिए। अतः वे अपनी उन्नति और विकास करने के साथ, राज्य से प्रेम करें, राज्य की सेवा करें, उसके लिए जीयें, और उचित तथा आवश्यक होने पर उसके लिए प्राण देने को भी तत्पर रहें। तभी वे वास्तव में नागरिक कहे जा सकते हैं।

भिन्न-भिन्न राज्यों के नागरिकों की, इस दृष्टि से परीक्षा करने से मालूम हो सकता है कि यह बात केवल आदर्श रूप में ही रह जाती है; उसके अनुसार व्यवहार नहीं होता। नागरिकों को जैसी और जितनी शिक्षा मिलनी चाहिए, उसमें प्रायः सर्वत्र भारी कमी है।

प्रारम्भिक शिक्षा—वर्तमान काल में राज्यों का ध्यान प्रायः केवल साहित्यिक शिक्षा की ओर है। वे यही मानते हैं कि नागरिकों को प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है, इस शिक्षा के लिए वे निःशुल्क व्यवस्था करते हैं। अधिकतर नागरिक भी इसी में संतुष्ट हो जाते हैं। अस्तु, अब इस विषय में मतभेद नहीं है कि जिन नागरिकों को साधारण लिखना-पढ़ना भी नहीं आता, वे किसी राज्य की अवनत दशा के स्थूल प्रमाण हैं। इसलिए प्रत्येक विकसित राज्य नागरिकों की आवश्यकता के अनुसार प्रारम्भिक शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना और संचालन करता है, और जब नागरिक राज्य के किसी भाग,

नगर या ग्राम, में इन संस्थाओं की कमी या अभाव का अनुभव करते हैं तो वे इसके विषय में यथेष्ट आन्दोलन करते हैं।

अन्यान्य देशों में, इसका अच्छा उदाहरण इंगलैंड में मिलता है। वहाँ के निवासियों को जब जरा भी आशंका होती है कि सरकार शिक्षा-कार्य में कुछ पीछे हटना चाहती है, तो वहाँ का राष्ट्रीय-जीवन ऐसा अशान्त हो जाता है मानो वहाँ के नागरिकों के भोजन-वस्त्र आदि के समान किसी अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी वस्तु की प्राप्ति में बाधा पड़ रही हो; वे लोग सभाओं, व्याख्यानों, लेखों आदि के द्वारा अपने मानसिक उद्वेग को राज्य के प्रति ऐसे स्पष्ट रूप में प्रगट कर देते हैं कि अधिकारियों को इस ओर समुचित ध्यान देना ही पड़ता है। यह बात प्रत्येक राज्य के नागरिकों के लिए विचारणीय एवं शिक्षा-प्रद है।

उच्च शिक्षा—नागरिकों की प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था करना तो राज्य का कर्तव्य ही है, परन्तु उच्च शिक्षा की व्यवस्था वह करे या न करे, उसका उस पर उत्तरदायित्व नहीं है। प्रायः उन्नत राज्यों के नागरिकों में शिक्षा के प्रति ऐसा प्रेम रहता है कि वे स्वयं ही उसकी समुचित व्यवस्था कर लेते हैं, वे अपनी संस्थाओं को राज्य के नियंत्रण में नहीं रखते। यदि आवश्यकता हो तो वे सरकारी सहायता लेना स्वीकार कर लेते हैं, इस दशा में उन्हें राज्य के कुछ नियमों का पालन करना होता है, तथापि राज्य उनमें विशेष हस्तक्षेप नहीं करता। हाँ, सरकारी सहायता उन्हीं संस्थाओं को मिलती है, जो किसी मत या सम्प्रदाय विशेष की शिक्षा न देती हों, अथवा केवल उस धर्म की शिक्षा देती हों जो वहाँ का राजधर्म मान लिया गया हो। मत विशेष की शिक्षा देनेवाली संस्थाओं को अपना पाठ्य-क्रम आदि ऐसा उपयोगी और आकर्षक रखना होता है कि वे सर्व-साधारण की यथेष्ट सहानुभूति प्राप्त कर सकें और उनकी सहायता से अपना खर्च बखूबी चला सकें।

भारतवर्ष की स्थिति—भारतवर्ष में सरकार की ओर से स्थापित और संचालित शिक्षा-संस्थाएँ वहाँ की जन संख्या तथा क्षेत्र-फल की दृष्टि से, बिलकुल कम हैं। सरकार कुछ संस्थाओं को सहायता भी देती है। तथापि सब मिलाकर सरकार का इस कार्य में व्यय बहुत थोड़ा है। यद्यपि प्रारम्भिक शिक्षा का कार्य स्थानीय स्वराज्य-संस्थाओं अर्थात् म्युनिसिपेलिटियों और जिला-बोर्डों आदि को सौंपा गया है, और वे यथाशक्ति प्रयत्न भी कर रही हैं, परन्तु धनाभाव के कारण उनसे यथेष्ट कार्य नहीं होता। इस विषय में बहुत ध्यान दिये जाने तथा खर्च किये जाने की आवश्यकता है। फिर, यह भी विचार-णीय है कि यहाँ अभी मत-मतान्तर का भाव बहुत अधिक है। जब सरकार एक मत की शिक्षा देने वाली संस्था को सहायता देती है, तो दूसरे मत विशेष की शिक्षा देनेवाली संस्थाएँ भी सहायता माँगती हैं। इन भिन्न-भिन्न संस्थाओं में यथेष्ट सहानुभूति नहीं होती, और न इनसे निकलनेवाले युवकों में समुचित राष्ट्रीयता के भावों का उदय होता है। अतः जहाँ तक सम्भव हो, ऐसी संस्थाओं को ही सरकारी प्रोत्साहन मिलना चाहिए, जिनका दरवाजा सब विद्यार्थियों के लिए समान रूप से खुला हो।

प्रारम्भिक शिक्षा का यथेष्ट प्रचार करने, तथा भारतीय भाषाओं में माध्यमिक और उच्च शिक्षा के लिए यथेष्ट पाठ्य-ग्रन्थ तैयार कराने के लिए सरकार धनाभाव की शिकायत किया करती है। परन्तु नागरिकों के लिए शिक्षा जैसा आवश्यक कार्य धनाभाव के कारण चिरकाल तक रुका नहीं रहना चाहिए; इससे शासन-व्यवस्था खराब होने का सबूत मिलता है। आशा है, जल्दी ही इस ओर यथेष्ट ध्यान दिया जायगा।

शिक्षा का माध्यम—शिक्षा का माध्यम नागरिकों की भाषा होनी चाहिए; यह एक ऐसी बात है, जिसकी साधारण [illegible]

में कहने की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु दुर्भाग्य से जब साधारण स्वाभाविक स्थिति न हो, तब इसे कहना आवश्यक ही है। भारतवर्ष में कुछ समय पहले तक माध्यमिक शिक्षा में भी अंगरेजी का उपयोग किया जाता था, उच्चशिक्षा तो अब भी अनेक स्थानों में अंगरेजी में दी जाती है। इसके, देश की भाषाओं में यथेष्ट पारिभाषिक शब्द-भंडार न होना, आवश्यक पाठ्य-पुस्तकों की कमी, यथोचित योग्यता वाले अध्यापकों का न मिल सकना आदि विविध कारण बताए जाते हैं। इन बातों का यथेष्ट उत्तर दिया गया; गुरुकुल और विद्यापीठ आदि अनेक राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाओं ने अपने उदाहरण से मार्ग प्रशस्त किया। अब सरकार इस दिशा में कुछ ध्यान दे रही है।

शिक्षा का माध्यम विदेशी भाषा होने से विद्यार्थियों को रटना या घोटना बहुत पड़ता है; वे विषय को पूरी तरह समझते नहीं, परिक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए कुछ बातें कंठ करते हैं। इसमें बहुत सी शक्ति और समय नष्ट होता है। अनेक विद्यार्थियों को पढ़ने से ही घृणा हो जाती है। परीक्षा में फेल होनेवालों की संख्या बढ़ती है, अनुत्तीर्ण युवक प्रायः निराशा और चिन्ता का जीवन व्यतीत करते हैं, और कुछ तो अपने प्राणों का अन्त ही कर डालते हैं। विदेशी भाषा में पढ़ने के अस्वाभाविक कार्य से बहुतों की स्वतंत्र चिन्तन की शक्ति नष्ट हो जाती है; उनमें मौलिकता नहीं रहती। उनके द्वारा प्रस्तुत साहित्य में गम्भीर और नवीन विचार नहीं मिलते; केवल दूसरों की नकल मिलती है, और वह भी कभी-कभी बहुत भद्दी होती है। इस प्रकार विदेशी भाषा को माध्यम के रूप में कदापि उपयोग न होना चाहिए। हाँ, वह स्वतंत्र भाषा के रूप में अध्ययन की जा सकती है, और यथासम्भव की जानी चाहिए।

नागरिक शिक्षा की आवश्यकता—शिक्षा-पद्धति कैसी होनी चाहिए, और वर्तमान प्रणाली में किन-किन सुधारों की

६—उसका नैतिक आदर्श ऊँचा हो।

७—वह वैयक्तिक और सार्वजनिक सम्पत्ति की रक्षा करे।

८—वह अच्छे नेताओं को चुन सके।

९—वह अपनी बुद्धि से नया कार्य आरम्भ करने के भाव की वृद्धि करे।

१०—वह मितव्ययिता और स्वावलम्बन का अभ्यास करे।

११—वह शिष्टाचार, कृपा और दयालुता का अभ्यास करे।

१२—वह स्वच्छता और सफाई की वृद्धि करे।

१३—वह मनोरंजन के उत्तम साधनों को पसन्द करे।

नागरिक शिक्षा की पद्धति—नागरिकों के इन गुणों के अभ्यास तथा प्रोत्साहन के लिए उपयुक्त शिक्षा-संस्थाएँ प्रत्येक विद्यार्थी का प्रति सप्ताह का लेखा रखती हैं, और समय-समय पर निम्न-लिखित रिपोर्ट देती हैं:—

(क) वह अपने व्यक्तित्व के कारण, दूसरों का आदर और विश्वास प्राप्त करने में कहाँ तक सफल हुआ?

(ख) किसी काम में लगे रहने में उसकी दृढ़ता कैसी है?

(ग) परिस्थिति या नये विचार को वह कैसी फुर्ती या तेजी से समझता है?

(घ) किसी कार्य को नियम-पूर्वक करने में उसका कहाँ तक विश्वास किया जा सकता है?

नागरिक विषयों सम्बन्धी प्रदर्शन—कहीं-कहीं कुछ संस्थाओं में नागरिक शिक्षा की व्यवस्था के लिए प्रति सप्ताह सभा होती है। इसमें मुख्य अध्यापक भी उपस्थित होता है, परन्तु वह केवल एक दर्शक के रूप में रहता है। सारे कार्य का संचालन करते हैं, विद्यार्थी ही। इस सभा में किसी नागरिक विषय पर वाद-विवाद होता

है। कभी-कभी नागरिक जीवन की साधारण घटनाओं का अभिनय किया जाता है। उदाहरण के लिए यह दिखाया जाता है कि एक व्यक्ति कुछ अपराध करता है तो इस पर पुलिस क्या-क्या कार्रवाई करती है। अदालतों में उसके विषय में किस तरह विचार होता है। अथवा, किसी पद के लिए एक आदमी की जरूरत है, उसका किस प्रकार विज्ञापन दिया जाता है, और जब उम्मेदवारों की दरख्वास्तें आजाती हैं, तो उनपर किस तरह विचार किया जाता है। यदि किसी उम्मेदवार को नियुक्ति से पूर्व मिलने के लिए बुलाया जाय तो उससे क्या-क्या बातें स्पष्ट की जाती हैं। कभी-कभी यह दिखाया जाता है कि एक निर्वाचक संघ से किसी व्यक्ति का चुनाव करने का क्या ढंग होता है। इसके लिए क्या-क्या कार्रवाई करने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार विद्यार्थियों को अपने छात्र-जीवन में उन विविध नागरिक विषयों का अच्छा ज्ञान हो जाता है, जो संस्था को छोड़ने के बाद उनके सम्मुख उपस्थित होंगे। यदि प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा-संस्थाओं के संचालक इस पद्धति का छात्रों की योग्यता के अनुसार काम में लावें तो यह बहुत उपयोगी हो सकती है।

ऊँची श्रेणियों के विद्यार्थियों के लिए नागरिक शिक्षा—जब विद्यार्थियों की समझने की शक्ति बढ़ जाय, जब वे ऊँची श्रेणियों में चढ़ जायें तो प्रश्नोत्तर द्वारा उनके ज्ञान की वृद्धि करायी जा सकती है। उदाहरण के लिए उनसे पूछा जाय कि नगर में सड़कों पर रोशनी कौन कराता है, सड़कें कौन बनवाता है। जब वे जानें कि यह कार्य म्युनिसिपैलिटियों द्वारा होते हैं तो प्रश्नोत्तर द्वारा उन्हें बताया जा सकता है कि म्युनिसिपैलिटियों की आमदनी किस-किस प्रकार होती है। इसके लिए सदस्य कौन चुनता है, वे किस प्रकार चुने जाते हैं।

म्युनिसिपैलिटियों और जिला-बोर्डों आदि स्थानीय संस्थाओं का [illegible] ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद प्रान्तीय और [illegible]

संस्थाओं तथा प्रबन्धकारिणी सभाओं की कार्यपद्धति तथा उस विषय के सिद्धांतों का परिचय कराया जा सकता है।

विश्वविद्यालयों में, ऊँची कक्षाओं में पढ़नेवाले युवकों में नागरिक शिक्षा का यह कार्य-क्रम और आगे बढ़ाया जा सकता है, उन्हें बहुत सी बारीकियाँ और ब्योरेवार बातें मालूम करायी जायँ, जिससे वे नागरिक विषयों के वाद-विवाद में अधिक स्वाधीनता का उपयोग कर सकें। विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों और वाचनालयों में नागरिक विषयों सम्बन्धी यथेष्ट साहित्य और पत्र-पत्रिकाएँ आदि रहनी चाहिएँ।

इस प्रकार प्रत्येक राज्य में, शिक्षा-प्राप्ति के समय ही, नवयुवकों और नवयुवतियों को नागरिक विषयों का ज्ञान हो जाना आवश्यक है। राज्य को इसके लिए यथेष्ट सुविधाओं की व्यवस्था करनी चाहिए। इस शिक्षा को प्राप्त किये बिना वे वास्तव में नागरिक ही नहीं बन सकते।

प्रौढ़ स्त्री पुरुषों को कर्तव्य-पालन की शिक्षा—अब हमें यह विचार करना है कि उन स्त्री-पुरुषों को कर्तव्य-पालन की शिक्षा किस प्रकार दी जाय, जो प्रौढ़ अवस्था के हैं, परन्तु जिन्होंने या तो थोड़ा सा पढ़-लिखकर छोड़दिया है, अथवा जो किसी विशेष कारण से नितांत अशिक्षित हैं।

जो व्यक्ति दुर्भाग्य से कुछ शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके हैं, उन्हें उनके कर्तव्य-पालन का ज्ञान कराने का कार्य व्याख्यान देनेवालों और कथा बांचने वालों का है। ये अपने आचरण और व्यवहार के अलावा भाषणों और उपदेशों से तथा कथा-वार्ता सुना कर यह कार्य करें। जो प्रौढ़ व्यक्ति कुछ शिक्षित हैं, वे भी इनसे लाभ उठा सकते हैं। वे इनके अतिरिक्त स्थायी और सामयिक साहित्य को, ग्रन्थों और पत्र-पत्रिकाओं को भी अवलोकन करते रहें और देश-काल की परिस्थिति का अनुशीलन कर अपना कर्तव्य पालन करते रहें। इनकी सुविधा के लिए म्युनिसिपेलिटी आदि के सहयोग से नगर-नगर और गांव गांव

में, ऐसे सार्वजनिक पुस्तकालय और वाचनालय होने चाहिएँ, जिनमें नागरिक विषयों के विवेचन के लिए राजनीति, अर्थशास्त्र, इतिहास और समाजशास्त्र आदि का पर्याप्त साहित्य हो। इन संस्थाओं की इमारतें ऐसी और इतनी बड़ी होनी चाहिएँ कि इनमें समय-समय पर नागरिकों की सार्वजनिक सभाएँ हो सकें। जहाँ-कहीं पुस्तकालयों और वाचनालयों की इमारतों से यह काम न लिया जा सके, वहाँ इस कार्य के लिए अन्य स्वतन्त्र स्थानों की व्यवस्था होनी आवश्यक है। इनका प्रबन्ध किसी विशेष जाति या समूह के हाथ में न रहकर सर्वसाधारण के अधीन होना चाहिए; जिससे प्रत्येक श्रेणी के नागरिक इनका ठीक उपयोग कर सकें। निदान, नागरिक शिक्षा का कार्य नगर-नगर और गाँव-गाँव में ही नहीं, मौहल्ले-मौहल्ले और घर-घर में होना चाहिए।
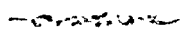
ग्यारहवाँ अध्याय

भाषा और लिपि की स्वतंत्रता

"मनुष्य की मातृ-भाषा उतनी ही महत्ता रखती है, जितनी कि उसकी माता और मातृभूमि रखती है। एक माता जन्म देती है; दूसरी खेलने-कूदने, विचरण करने और सांसारिक निर्वाह के लिए स्थान देती है; और तीसरी विचारों और मनोगत भावों को दूसरों पर प्रकट करने की शक्ति देकर मनुष्य-जीवन को सुखमय बनाती है।"

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्राक्कथन—अधिकांश देशों में नागरिकों को भाषा और लिपि सम्बन्धी इतनी स्वतन्त्रता होती है कि [illegible]

की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि इसका एक पृथक् नागरिक अधिकार की भांति वर्णन किया जाय। तथापि सिद्धान्त की दृष्टि से इस विषय का स्पष्टीकरण होना अच्छा ही है। इसी विचार से आयरिश फ्री-स्टेट आदि राज्यों ने अपने-अपने नागरिकों के इस अधिकार को स्पष्ट रूप से घोषित किया है।

भाषा का महत्व—अपने विचारों को प्रकट करने के लिए गूंगे आदमी तरह-तरह के संकेत किया करते हैं; जिन लोगों की भाषा हम नहीं समझ सकते उन्हें इशारों से काम चलाना पड़ता है। तथापि प्रत्येक व्यक्ति अपने अनुभव से जानता है कि भाव प्रकट करने का सब से उत्तम साधन भाषा है। यदि मनुष्य के पास यह शक्ति या साधन न होता तो न-मालूम उसकी क्या दुर्दशा होती। वह अपना विचार, अपना सुख-दुख, अपना अनुभव दूसरों के प्रति प्रकट न कर सकता, और समाज में संगठन या उन्नति का मार्ग प्रशस्त न होता। हमारे सामाजिक जीवन का आधार भाषा ही है। इसके अभाव में धार्मिक, आर्थिक या राजनैतिक उन्नति की सम्भावना नहीं होती। इससे नागरिकों को अपनी भाषा के उपयोग तथा विकास करने के लिए यथेष्ट अवसर मिलने का महत्व स्पष्ट है।

मातृभाषा की रक्षा की आवश्यकता—प्रत्येक उन्नत जाति और राष्ट्र स्व-भाषा के उपयोग के महत्व को भली भांति जानता है। इसलिए इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि बहुत कष्ट सहकर भी लोगों ने अपनी भाषा की रक्षा की है। विजेता जीते हुए देशों में अपनी भाषा का प्रचार इसीलिए किया करते हैं कि किसी तरह वे उन देशों के स्वतन्त्र अस्तित्व को लुप्त करके, उन्हें आसानी से अपना अंग बना सकें। पराधीन जातियाँ भी, जब समझदार होती हैं तो भली भाँति जानती हैं कि यदि हम अपनी भाषा की रक्षा कर सकीं तो राजनैतिक दासता थोड़े-बहुत समय में हटायी जा सकेगी, परन्तु यदि

पराधीन आदमी अपनी भाषा छोड़ कर दूसरों की भाषा स्वीकार करलें तो रंग-रूप उनका ही रहने पर भी, उनकी रुचि, आचार-विचार, रहन-सहन, सभ्यता और संस्कृति में विदेशीपन आ जाता है, जिससे सहज ही छुटकारा नहीं होता। स्वाधीन देशों को भी अपनी भाषा की रक्षा करने की बहुत आवश्यकता रहती है, इस ओर कुछ उदासीनता होने से उनके स्वराज का आधार निर्बल हो जाता है। इस प्रकार, नागरिकों को अपनी भाषा के उपयोग का यथेष्ट अधिकार होना चाहिए।

भाषा सम्बन्धी अधिकार—नागरिकों को यह अधिकार होना चाहिए कि वे राज्य के कार्यों में अपनी भाषा का प्रयोग कर सकें यदि उनके देश में कई भाषाएँ प्रचलित हों तो वे स्थानीय कार्य में अपनी प्रान्तीय भाषा, तथा केन्द्रीय कार्य में राष्ट्र-भाषा का उपयोग कर सकें। नागरिकों की इच्छा या सुगमता को लक्ष्य में रखकर उन्हें किसी अन्य भाषा का उपयोग करने की अनुमति दी जा सकती है, परन्तु उन्हें उसके लिए बाध्य किया जाना सर्वथा अनुचित है।

राज्य को चाहिए कि सार्वजनिक कार्यों में नागरिकों की भाषा का प्रयोग करे; यदि नागरिकों में कई-एक भाषाएँ प्रचलित हों तो उनमें से मुख्य-मुख्य भाषाओं का उपयोग किया जाना चाहिए। पाठशालाओं, सरकारी दफ़्तरों, अदालतों, व्यवस्थापक सभाओं तथा अन्य सार्वजनिक व्यवहार में नागरिकों को भिन्न-भिन्न भाषाओं की स्वतन्त्रता का नियम रहे। साथ ही उन भाषाओं के साहित्य-भंडार और साहित्य की उन्नति और वृद्धि का ध्यान रखा जाना चाहिए।

भारतवर्ष का विचार—[illegible]
[illegible] संसार के एक-एक राष्ट्र के समान [illegible] है। यहाँ [illegible] भाषा का व्यवहार [illegible] है। इसलिए [illegible]

प्रत्येक नागरिक अपने प्रान्त की भाषा बंगला, मराठी, गुजराती आदि अथवा राष्ट्र-भाषा हिन्दी का उपयोग कर सकें, और केन्द्रीय कार्यों में राष्ट्र-भाषा हिन्दी का। किसी नागरिक का इन भाषाओं में किया हुआ कोई कार्य कानूनी दृष्टि से अमान्य न होना चाहिए। भारतीय जनता में केवल बारह फी सदी स्त्री-पुरुष शिक्षित हैं, अंगरेजी का तो ज्ञान यहाँ बहुत ही कम लोगों को है। इसलिए उन्हें इस विदेशी भाषा में सरकारी काम करने के लिए बाध्य करना बड़े झंझट में डालना है। परन्तु, हम केवल सुविधा के विचार से हिन्दी तथा प्रान्तीय भाषाओं में राज्य-कार्य किये जाने के लिए नहीं कहते। प्रश्न नागरिक अधिकार का है, यह लोगों को मिलना चाहिए।

राज्य को चाहिए कि शासन-सम्बन्धी सब कार्य नागरिकों की सुविधानुसार यहाँ की भाषाओं में करे। सब सार्वजनिक संस्थाओं, विभागों, कमीशनों या कमेटियों आदि की रिपोर्ट आदि हिन्दी में तथा उस प्रान्त की भाषा में प्रकाशित करें, जहाँ के आदमियों का उससे घनिष्ट सम्बन्ध हो। शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में भी इन बातों का काफी ध्यान रखे जाने की आवश्यकता है। इसके विषय में हम विशेष रूप से, पिछले अध्याय में कह आये हैं।

लिपि सम्बन्धी अधिकार—किसी भी भाषा में कुछ लिखने के लिए एक लिपि की आवश्यकता होती है। संसार की बहुत सी भाषाओं का एक-एक लिपि से घनिष्ट सम्बन्ध हो गया है, और जिस प्रकार किसी देश या बड़े प्रान्त के नागरिकों की कोई विशेष भाषा होती है, उसी प्रकार बहुधा वे किसी विशेष लिपि का ही उपयोग अधिक करते हैं। इसलिए जैसे नागरिकों को अपनी भाषा के इस्तेमाल का अधिकार होना चाहिए, वैसे ही उन्हें लिपि सम्बन्धी अधिकार होना आवश्यक है। उन्हें सरकारी कार्य में अपनी लिपि काम में लाने की अनुमति होनी चाहिए। यदि किसी बड़े देश में कई लिपियाँ प्रचलित हों तो वहाँ राष्ट्रीय कार्य राष्ट्र-लिपि में करने का नियम हो सकता है, परन्तु

नागरिकों को विदेशी लिपि में लिखने के लिए बाध्य करना सर्वथा अनुचित है, अन्याय है। राज्य को चाहिए कि अपने कार्यों में लिपि सम्बन्धी वैसे ही सिद्धान्तों के पालन करने का ध्यान रखे, जैसे हम भाषा के सम्बन्ध में पहले बता आये हैं, अर्थात् उसकी सार्वजनिक संस्थाओं का सब काम देश की लिपि में हो, उनमें नागरिकों की सुविधा का यथेष्ट ध्यान रखा जाय।

भारतवर्ष इतना बड़ा देश होने पर भी यहाँ लिपि सम्बन्धी समस्या कुछ जटिल नहीं है। यहाँ अधिकतर भाग में देवनागरी और फारसी लिपि से बखूबी काम चल सकता है। दक्षिण भाग के प्रान्तीय कार्यों के लिए वहाँ की लिपि काम में लायी जा सकती है। नोट सिक्के, तथा रेल, तार, डाक आदि जो कार्य अखिल भारतवर्षीय हैं, उनमें देवनागरी और फारसी लिपि का व्यवहार होना चाहिए। यहाँ इन बातों के लिए बहुत आन्दोलन करना पड़ा, और कुछ अंश में अभी तक भी अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हुई है। अब तो यहाँ भी राष्ट्रीय सरकार स्थापित होने वाली है; आशा है, इन बातों की ओर पूरा ध्यान दिया जायगा।

प्रान्त के नागरिकों के सामूहिक हित का विचार करके किस भाषा और किस लिपि का व्यवहार किया जाना उपयोगी होगा, इसका सहज ही निर्णय किया जा सकता है। उसी में नागरिकों को एवं राज्य को सार्वजनिक कार्य करना चाहिए। अपने-अपने निजी या घरेलू व्यवहार में जो नागरिक, जिस भाषा और जिस लिपि का उपयोग सुविधाजनक समझे, उस में व्यवहार कर सकता है।

बारहवाँ अध्याय

मताधिकार

"जब तक तुम्हारे देश-बन्धुओं में से एक भी ऐसा है, जिसका, राष्ट्रीय जीवन की उन्नति के लिए, अपना चुना हुआ प्रतिनिधि नहीं है, तब तक तुम्हारा देश सबका, और सबके लिए, नहीं है, जैसा कि वह होना चाहिए।

—मेजिनी

नियम-निर्माण और नागरिक—राज्य की प्रभुता का आधार सर्वसाधारण की इच्छा है। नागरिक उसके कानून कायदे केवल इसलिए ही मान्य नहीं करते कि वे नागरिकों के हित के लिए बनाये गये हैं; सम्भव है बहुत से नागरिक कितने ही कानूनों की उपयोगिता न समझ सकें। उन कानूनों के मान्य होने का एक मुख्य कारण यह होता है कि उनके बनाने में नागरिकों का भी हाथ होता है। अपने बनाये हुए कठोर कानून भी नागरिकों द्वारा प्रायः पालन किये जाते हैं; इसके विपरीत, दूसरे के बनाये कानून प्रायः आशंका की दृष्टि से देखे जाते हैं, और कुछ बहाना मिलने पर उनकी अवहेलना की

जाती है। इसलिए यह आवश्यक है कि राज्य के कानून वहाँ के नाग-
रिकों द्वारा ही बनाये जायँ। ऐसा होने में नागरिकों के हित और स्वार्थों
का समुचित ध्यान रह सकेगा, और स्वयं नागरिकों द्वारा बनाये जाने
के कारण इन्हें भंग भी बहुत कम किया जायगा। परन्तु क्या कानून
बनाने में सब नागरिकों का भाग लेना सम्भव है?

मताधिकार—प्रत्येक गाँव या नगर के निवासियों में बच्चों
या नाबालिगों की खासी संख्या होती है फिर कुछ आदमी बूढ़े, रोगी
या निर्बल भी होते हैं। यदि इन्हें छोड़ दिया जाय तो भी शेष सब
आदमी अब कानून बनाने में प्रत्यक्ष भाग नहीं ले सकते। प्राचीन
काल में थोड़ी जनसंख्या वाले नगर-राज्यों में यह बात हो सकती
थी। पर राज्यों के बड़े-बड़े हो जाने और जनसंख्या बहुत बढ़
जाने पर उस प्रथा के अनुसार कार्य करना बहुत कठिन हो गया,
और उसे हटा दिया गया। अब नागरिक प्रत्यक्ष रूप से कानून-निर्माण
नहीं करते, नहीं कर सकते। उनकी ओर से भेजे हुए प्रतिनिधि ही
कानून बनाते हैं। इस प्रकार किसी राज्य के लाखों या करोड़ों आदमी
एकत्र न होकर उनकी तरफ से केवल सौ, दो सौ या चार-पाँच सौ
आदमी यह कार्य करते हैं। इन प्रतिनिधियों के चुनाव के लिए राज्य
के असंख्य आदमियों को मत देने का अधिकार होता है, वे सब यह
अनुभव करते हैं कि उन्हें, अप्रत्यक्ष रूप से ही क्यों न हो, कानून-
निर्माण करने, और इस प्रकार राज्य के शासन [illegible]

कर्मचारी चुना जावे। जिन नागरिकों को मताधिकार प्राप्त होता है, वे निर्वाचक कहलाते हैं।

याद रहे कि जिन व्यवस्थापक सभाओं में प्रतिनिधि चुनकर भेजे जाते हैं, यदि उनकी शक्ति कम हो, उन पर शासकों का नियत्रंण बहुत अधिक हो, तो निर्वाचकों के मताधिकार का महत्व बहुत-कुछ नष्ट हो जाता है।

मताधिकार व्यापक होना चाहिए—सर्वसाधारण में राजनैतिक जागृति के भावों का संचार करने के लिए तथा उन्हें यह अनुभव कराने के लिए कि अपने देश के शासन में हमारा भी कुछ भाग है—चाहे वह अप्रत्यक्ष रूप से ही हो—यह आवश्यक है कि मताधिकार देश के अधिक-से-अधिक आदमियों को हो, केवल किसी विशेष श्रेणी या विशेष स्वार्थ वालों को नहीं। इसमें अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष, मालिक-मजदूर, कृषक-जमींदार का, अथवा रंग, जाति, धर्म (मत) आदि का पक्षपात न होना चाहिए। हाँ; राज्य के जो आदमी पागल या नाबालिग हों, उन्हें इस अधिकार से वंचित रखा जाना ठीक ही है; कारण कि उनमें विचार-पूर्वक मत देने की योग्यता नहीं होती।

इन बातों में अनेक आदमियों को कई आपत्तियाँ रही हैं, तथा इस समय भी कुछ बातें सर्वमान्य नहीं हैं। उनके विषय में कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। पहले स्त्रियों के मताधिकार का प्रश्न लेते हैं।

स्त्रियों का मताधिकार—पहले कहा जा चुका है कि यद्यपि पिछले वर्षों में स्त्रियों के राजनैतिक अधिकारों की कुछ वृद्धि हुई है, उन्हें इस समय भी कितने ही देशों में प्रायः बहुत कम अधिकार हैं। उनके मताधिकार का विरोध बहुत स्थानों में बना हुआ है। हमारी सम्मति में किसी स्त्री को, केवल स्त्री होने के कारण इस अधिकार से वंचित रखना अनुचित है। अन्य राजनैतिक अधिकारों की भांति

इस अधिकार का दुरुपयोग होगा और निर्वाचक अपना कर्तव्य-पालन ठीक तरह से न कर सकेंगे, उनमे बहुत गलतियाँ होंगी। इस सम्बन्ध में विचार करने की पहली बात तो यह है कि प्रजातन्त्र राज्य का जीवन ही इस बात में है कि लोगों पर उनके कार्य का उत्तरदायित्व रहे, चाहे उनमे कहीं-कहीं कुछ त्रुटियाँ ही क्यों न हों। वे अपनी त्रुटियों से शिक्षा लेंगे, और राज्य भी जब यह अनुभव करेगा कि वर्तमान परिस्थिति में नागरिकों मे त्रुटियाँ होती हैं, तो वह उन्हें शिक्षित करने के उपाय काम मे लायेगा। इस प्रकार शिक्षा-हीनता के आधार पर नागरिकों को मताधिकार से वंचित नहीं किया जाना चाहिए।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि यदि मताधिकार का आधार शिक्षा रखा जाय तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कहाँ तक शिक्षा पाये हुए व्यक्ति को यह अधिकार मिलना उचित होगा। मामूली लिखना पढ़ना जान लेने से कोई व्यक्ति निर्वाचन के विषय में विशेष योग्य नहीं कहा जा सकता। यदि निर्वाचन के लिए किसी प्रकार की योग्यता की आवश्यकता है तो वह है राजनैतिक ज्ञान, शासन-पद्धति और शासन सम्बन्धी समय-समय पर उपस्थित होनेवाले विषयों का व्यावहारिक ज्ञान। यह ज्ञान अनेक ऐसे आदमियों को भी नहीं होता जो दर्शन शास्त्र, चिकित्सा या गणित आदि की बड़ी उपाधियाँ प्राप्त होते हैं। तो क्या इन सब आदमियों का भी मताधिकार से वंचित कर दिया जाना उचित होगा? फिर, यदि मताधिकार के लिए किसी प्रकार की मानसिक योग्यता आवश्यक समझी जाती है तो राज्य का कर्तव्य है कि साधारण नागरिकों को उतनी योग्यता प्राप्त कराये। असल बात तो यह है, कि यद्यपि नागरिकों के लिए शिक्षा बहुत आवश्यक और उपयोगी है परन्तु निर्वाचन आदि कार्यों के लिए जितना महत्व इसे कुछ आदमी दे देते हैं, वह जरूरत से ज्यादह है।

मताधिकार और सम्पत्ति—हम 'अधिकारों का साधारण विवेचन' शीर्षक अध्याय में लिख चुके हैं, किसी नागरिक को धनाभाव

के कारण मताधिकार आदि किसी राजनैतिक अधिकार से वंचित किया जाना अनुचित है। प्रायः राज्यों में धनोत्पादन और धन-वितरण की जो पद्धतियाँ विद्यमान हैं, उनके कारण कुछ आदमियों का, और कहीं-कहीं तो बहुत से आदमियों का, निर्धन रहना स्वाभाविक है। इन्हें मताधिकार न देने से राज्य में लोकतन्त्र के सिद्धान्तों का व्यवहार कम हो जाता है। इसके अतिरिक्त एक बात और भी विचारणीय है। प्रत्येक राज्य में कुछ महानुभाव ऐसे उच्च विचार वाले होते हैं, जो धन का जानबूझ कर त्याग करते हैं; वे बिना वेतन या अल्प वेतन पर सेवा करते हैं, और अपने जीवन का उद्देश्य यथाशक्ति परोपकार करना समझते हैं। वे निर्धनता और सादगी का जीवन बिताते हैं। ऐसे उदार और त्यागशील सज्जनों का प्रत्येक राज्य को गर्व करना चाहिए; इन्हें इनकी निर्धनता के कारण मताधिकार न देना, राज्य का उनके अनुभव और सेवा से वंचित होना है।

मौज उड़ाते हैं, या निखट्टू रहते हुए भिक्षा मांग कर खाते हैं, उनको इस अधिकार से वञ्चित किया जाना ठीक है।

बालिग मताधिकार—मताधिकार राज्य की अधिकतम जनता को होने के लिए उसमें शिक्षा, सम्पत्ति या स्त्री-पुरुष भेद का बन्धन न लगाया जाना चाहिए; यह अधिकार प्रत्येक बालिग स्त्री-पुरुष को होना चाहिए, जिसकी शारीरिक या मानसिक दशा ऐसी विकृत न हो कि वह इस कर्तव्य का पालन करने में असमर्थ हो। ऐसा होने पर ही व्यवस्थापक सभाओं के सदस्य किसी विशेष समूह के प्रतिनिधि न होकर अधिक से अधिक जनता के प्रतिनिधि होंगे, तथा राज्य अपने नागरिकों के अनुभव और ज्ञान से यथेष्ट लाभ उठा सकेगा।

मताधिकार का सदुपयोग—अन्य अधिकारों की तरह इस अधिकार के भी दुरुपयोग से बचने की बड़ी आवश्यकता है। निर्वाचकों को खूब समझ लेना चाहिए कि जिस व्यक्ति के चुनाव के लिए वे अपना मत देते हैं, वह वास्तव में निडर, अनुभवी स्वदेश-हितैषी, एवं उन सब गुणों से सम्पन्न है या नहीं, जो उनके योग्य प्रतिनिधि में होने चाहिए। निर्वाचकों को किसी प्रकार के लोभ, लिहाज, जाति, सम्प्रदाय आदि के विचार में पड़कर अपने कर्तव्य पालन में त्रुटि न करनी चाहिए।

निर्वाचकों को ध्यान रखना चाहिए कि जिस आदमी को मत देकर वे अपना प्रतिनिधि बनाते हैं, वह जो कुछ व्यवस्थापक सभाओं में कहेगा और करेगा वह उनकी ओर से कहा हुआ और किया हुआ समझा जायगा। इसलिए प्रत्येक नागरिक का एक-एक मत बहुमूल्य है। वह किसी भी दशा में अयोग्य आदमी को नहीं दिया जाना चाहिए।

कभी-कभी कुछ नागरिक निर्वाचन-स्थान तक जाने-आने के झंझट से बचने के लिए मत ही नहीं देते। यह भी ठीक नहीं है। उनकी उपेक्षा से योग्य उम्मेदवारों को मिलनेवाले मतों की संख्या कम होकर

तेरहवाँ अध्याय

शासन-अधिकार

शासन और स्वराज्य—संसार में प्रचलित विविध शासन-पद्धतियों में से कौनसी किसी देश के लिए ठीक रहेगी, यह निश्चय करने का अधिकार उस देश के नागरिकों को होना चाहिए। नागरिक ही उस शासनपद्धति में अपने सामूहिक हित और आवश्यकताओं के अनुसार समय-समय पर परिवर्तन या संशोधन कर सकते हैं। राज्य नागरिकों के लिए होता है, और वह उनका हित उसी अवस्था में भली-भांति सम्पादन कर सकता है, जब कि वे उसके नियंत्रण और निर्म्माण में समुचित भाग लें।

स्वाभाविक स्थिति में प्रत्येक देश, उसी देश वाले एक या अधिक व्यक्तियों द्वारा शासित होता है। इस दशा में नागरिकों के अधिकार विदेशियों द्वारा अपहरण किये हुए नहीं होते; परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि देश की राजनैतिक स्थिति में कुछ सुधारों की जरूरत ही न हो; सम्भव है स्वराज्य नाममात्र का हो; वास्तव में, सब नागरिकों के लिए स्वराज्य न हो। अस्तु, अधीनता तो हर प्रकार की निन्दनीय है; स्वदेशियों की हो या विदेशियों की; उसे दूर करके वास्तविक स्वराज्य स्थापित करना, तथा यदि देश में स्वराज्य ही है, तो उसकी रक्षा करना, उसे बनाये रखना आवश्यक है। स्वराज्य में किसी जाति या धर्म विशेष के आदमियों से न तो कोई सख्ती की जानी चाहिए, और न किसी का पक्षपात हो। वास्तव में स्वराज्य का अर्थ है, नागरिकों का राज्य; प्रत्येक बालिग स्त्री-पुरुष को मताधिकार प्राप्त हो, और उनके द्वारा चुने हुए त्यागशील और अनुभवी सज्जनों के मतानुसार बने हुए कानूनों से ही शासन होना चाहिए।

उचित नहीं। उनकी राजनैतिक आकांक्षा यह होनी चाहिए कि अपने देश का शासन स्वयं (अपने प्रतिनिधियों द्वारा) करने का अधिकार प्राप्त करें, जिसका एक अंग पदाधिकार भी है। अस्तु, प्रत्येक नागरिक को अधिकार होना चाहिए कि वह अपनी योग्यतानुसार राज्य के विविध ऊँचे-से-ऊँचे मुल्की या फौजी पद प्राप्त करे, और उन पदों पर रहते हुए सर्व-साधारण की अधिक-से-अधिक सेवा करके मातृभूमि के उपकारों से उऋण होने का यत्न कर सके।

पदाधिकार मे केवल यही लाभ नहीं है कि इससे कुछ नागरिकों की आजीविका का मार्ग प्रशस्त हो जाता है, वरन् यह भी है कि योग्यतानुसार पद पाते रहने मे नागरिकों को राज्य की न्याय-बुद्धि का परिचय मिलता है। इससे सर्वसाधारण में सन्तोष का उदय होता है, जो राज्य की सुख-समृद्धि के लिए बहुत आवश्यक है। फिर, इससे नागरिकों में योग्यता प्राप्ति के वास्ते उत्साह बढ़ता है, जो जीवन-यात्रा के वास्ते बहुत उपयोगी है। इसके साथ ही जब देश के नागरिक उच्च पदों पर नियुक्त हो सकते हैं तो उनमें आरम्भ से ही एक विशेष प्रकार के स्वाभिमान और उत्तरदायित्व का भाव उत्पन्न होता है, जिससे उनकी विविध शक्तियों का विकास होने में बड़ी सहायता मिलती है।

इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि पदाधिकार की भली भाँति रक्षा की जाय। राज्य को चाहिए कि जाति-पाँति, रङ्ग, धर्म आदि का पक्षपात छोड़कर, देश के नागरिकों को ही विविध सरकारी पदों पर नियुक्त करे, और केवल विशेष परिस्थिति में, और कुछ निर्धारित काल तक विदेशियों (अ-नागरिकों) से काम ले। इस विचार से, भारतवर्ष में कमिश्नर या गवर्नर आदि ही नहीं, गवर्नर-जनरल और कमांडरनचीफ (जंगी लाट) आदि भी साधारणतया भारतवासी ही होने चाहिएँ।

चौदहवाँ अध्याय

न्याय

न्याय का महत्व--न्याय राज्य का सबसे बड़ा बल है। जहाँ न्याय-कार्य समुचित रूप से होता है, और दुष्टों को ठीक दंड मिलता है, किसी का पक्षपात नहीं होता, वहाँ सब नागरिक अपने कार्य में लगे रहते हैं, और राज्य की उन्नति होती है। परन्तु जो राज्य अपने न्याय-बल की उपेक्षा करके, सेना और पुलिस का आसरा तकते हैं उनका भविष्य अंधकारमय होने में कोई संदेह नहीं। जिस राज्य में अन्याय होने लगता है, वह सर्वसाधारण की सहानुभूति से वंचित हो जाता है; लोगों में क्रांति के भाव बढ़ते जाते हैं; और यदि तब भी राज्य सावधान होकर न्याय का सहारा नहीं लेता तो उसके प्रति ऐसा विरोध-भाव उत्पन्न हो जाता है कि जनता अपने जान-माल की रक्षा से उदासीन होकर पुलिस और फौज का निर्भयता-पूर्वक सामना करने लगती है; और अन्त में राज्य को नीचा देखना पड़ता है।

न्याय की निस्पक्षता—न्यायालय के सामने सब नागरिक समान होने चाहिएँ। अभियुक्त का विचार करने और अपराधी को दंड देने में धनी-निर्धन, काले-गोरे या जाति और धर्म के आधार पर कोई भेद माना जाना अनुचित है। न्याय की निस्पक्षता न केवल उन विषयों में रहनी आवश्यक है, जिनका सम्बन्ध केवल नागरिकों या नागरिक-समूहों से है, वरन् उन विषयों में भी रहनी चाहिए जिनमें एक ओर नागरिक और दूसरी ओर शासक या प्रबन्धक हो। न्याय-कार्य निस्पक्ष होने के वास्ते कुछ बातें बहुत आवश्यक हैं। प्रथम यह कि राज्य में कानून का शासन होना चाहिए। नागरिक हो या शासक, कानून के सामने सब समान होने चाहिएँ। सब के लिए वे ही

और उन्नत राज्यों में ऐसा नियम होता है कि किसी व्यक्ति पर फौजदारी मुकदमा उस समय तक नहीं चल सकता, जब तक उसके कथित अपराध की प्रारम्भिक जाँच कोई अफसर अच्छी तरह न कर ले और उस व्यक्ति के अभियुक्त होने की सम्भावना साफ मालूम न हो। इस प्रकार पुलिस का अधिकार मर्यादित रहता है और वह उच्छृंखल नहीं हो सकती।

अच्छा, क्या कानून के अनुसार पुलिस किसी अभियुक्त को मन-चाही अवधि तक, प्रमाण संग्रह आदि के लिए हवालात में रख सकती है? नहीं; अभियुक्त को न्यायालय के सामने जल्दी-से-जल्दी उपस्थित करने में जितना समय लगे, उससे अधिक देर तक उसे हवालात में रखना अन्याय है। कहीं-कहीं पुलिस के मोहलत माँगने पर, अभि-युक्त के बहुत समय तक हवालात में रखे जाने की अनुमति मिल जाती है। यह भी अनुचित है। जहाँ ऐसा होता हो, वहाँ इस विषय का स्पष्ट कानून बन जाना चाहिए, जिससे अभियुक्त के नागरिक अधि-कार का अपहरण न हो।

अभियुक्त कहीं भाग न जाय, इस बात का प्रबन्ध तो अवश्य रहे, परन्तु वैसे उसके साथ व्यवहार बहुत उत्तम रहना चाहिए; जब तक न्यायालय ऐसा निर्णय न करे, किसी अभियुक्त को अपराधी मानना और उससे अपराधी का सा व्यवहार करना उसके प्रति अन्याय करना है।

याद रहे कि अभियुक्त को दोषी प्रमाणित करने का सब भार अभियोग चलानेवाले पर होना चाहिए। यदि अभियोग सरकार की ओर से चलाया जाय तो सरकार को उसके दोषी होने का सबूत न्यायालय के सामने रखना चाहिए। अनियंत्रित राज्यों में ऐसा नहीं होता; वहाँ सरकार अभियुक्त को दबाती है कि वह अपनी निर्दोषता सिद्ध करे। यह उचित नहीं; यह तो न्याय का प्रहसन है।

अच्छा फल नहीं निकलता। जिसे यह दण्ड दिया जाता है, उसे अपना सुधार करने का कोई अवसर ही नहीं रहता। रही, उसके जनता पर होनेवाले प्रभाव की बात। लोगों के युद्धों में भाग लेने, या युद्ध का हाल पढ़ते या सुनते रहने के कारण, प्राण-दण्ड से उन पर सरकार का इतना आतङ्क नहीं जमता, जितना कि प्रायः समझा जाता है। जो लोग राजविद्रोह आदि में मृत्यु-दण्ड पाते हैं, उनमें से तो बहुत से हँसते-हँसते मर जाते हैं। उन्हें इस बात की खुशी होती है कि वे अपनी विचार-स्वतंत्रता के कारण बलि-वेदी पर चढ़े। इस बात से जनता के मन पर कैसा प्रभाव पड़ता है, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। फिर, भूल सब से होती है। और. निर्दोष आदमियों को गलती से प्राण-दण्ड मिल चुकने पर न्यायाधीशों की भूल सुधारने का कोई उपाय नहीं रहता। यह भी तो सम्भव है कि जिन आमियों को क्षणिक अपराध के लिए फांसी दी जाती है, यदि उनके जीने के अधिकार की रक्षा की जाय और उनका उचित सुधार किया जाय तो पीछे जाकर वे कुछ उपयोगी कार्य कर सकें; हाँ, उनमें से कुछ सज्जन स्वदेश तथा संसार के हितैषी निकल आवें।

हर्ष की बात है कि धीरे-धीरे प्राण-दण्ड उठता जा रहा है। सभी सभ्य देशों में उन अपराधों की संख्या कम रह गयी है, जिनका दण्ड फाँसी निर्धारित है। योरप, अमरीका के कई देशों में फाँसी की सजा बिलकुल ही नहीं रही है। हत्यारों या राजद्रोहियों को कालेपानी या देश-निकाले आदि की सजा दी जाती है, इससे अपराधी अपने चरित्र-सुधार के अवसर से एकदम वंचित नहीं होता। दण्ड या कानून का उद्देश्य नागरिकों का सुधार होना चाहिए, इस दृष्टि से प्राण-दण्ड सर्वथा उठ जाना आवश्यक है। इस विषय पर खुलासा विचार हमने अपनी 'अपराध-चिकित्सा' पुस्तक में किया है।

प्राकृतिक असमानताओं या विभिन्नताओं को मिटाया नहीं जा सकता। समाज और राज्य का कर्तव्य है कि इनका, परिस्थिति से यथासम्भव मेल बैठावे, किसी प्राकृतिक न्यूनता आदि को नागरिकों के विकास में बाधक न होने दे, वरन् उसका विचार करके उन नागरिकों के लिए विशेष प्रकार की योजना करे। कल्पना करो कि राज्य में कुछ आदमी अंधे या बहरे हैं; तो राज्य को चाहिए कि जहाँ तक सम्भव है, इनके इलाज का प्रबन्ध करे; और जिनका यह विकार दूर न हो उनके लिए विशेष प्रकार की शिक्षा संस्थाओं का प्रबन्ध करे। यह ठीक है कि ये नागरिक जीवन-संग्राम में अन्य नागरिकों की समानता नहीं कर सकेंगे, परन्तु इनके अन्धा या बहरा होते हुए भी, राज्य की सुव्यवस्था से इनकी बहुत-सी असुविधाएँ दूर हो जायँगी; ये उतनी समानता प्राप्त कर लेंगे, जहाँ तक उसका प्रदान करना राज्य की पहुँच में है।

अवसर की समानता—राज्य को चाहिए कि वह नागरिकों को अपनी उन्नति या विकास करने के लिए समान अवसर दे; और, सबसे, उनकी योग्यता या कार्य-क्षमता के अनुसार, लाभ उठावे। उसे किसी नागरिक को किसी ऐसे आधार पर अपनी सुविधाओं से वंचित न कर देना चाहिए, जिस पर नागरिक का कोई वश नहीं था, जिसके लिए वह उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। यदि किसी व्यक्ति का जन्म ऐसे जाति में हुआ है, जिसे दूसरे आदमी नीच समझते हैं, तो इसमें उस व्यक्ति का क्या दोष है! राज्य को चाहिए कि उसकी जाति का विचार न कर उसे शिक्षा पाने और स्वस्थ रहने आदि का, और पीछे योग्यतानुसार पद प्राप्त करने का, वैसा ही अवसर दे जैसा वह दूसरों को देता है; अर्थात् उसकी जाति विशेष के कारण ही उसे किसी सुविधा से वंचित न करे। राज्य के ऐसे व्यवहार से ही नागरिकों को अपना अधिकतम विकास करने के लिए अवसर मिलेगा। अन्यथा, जब नागरिक यह देखते हैं कि उनकी योग्यता या शक्ति बढ़ने पर भी राज्य में उसका कुछ मूल्य न होगा, उन्हें छोटे दर्जे के अर्थात् ऐसे

कामों में ही लगाना होगा, जिनमें बहुत कम योग्यता की आवश्यकता होती है, तो उन्हें अपनी योग्यता बढ़ाने का उत्साह नहीं होता। इससे उनकी हानि के साथ-साथ राज्य की भी हानि होती है।

कानूनी समानता—नागरिकों में उन्नति करने की भावना तथा योग्यता तभी रह सकती है, जब उन्हें 'कानूनी समानता' का अधिकार हो, अर्थात् जब कानून की दृष्टि से सब नागरिक समान समझे जायँ, जैसा व्यवहार एक के साथ हो, वैसा ही, उसके समान अन्य नागरिकों से हो। राज्य जैसे एक के जान-माल की रक्षा करे, वैसे ही दूसरे के जान-माल की रक्षा करे। जो मान पद आदि एक व्यक्ति को दिया जाय, वह उसके समान योग्यता वाले प्रत्येक नागरिक को मिल सके। इसमें जाति-पांति, रङ्ग, वंश, धर्म, मत आदि का विचार न किया जाय। सब के अधिकार समान हों। राज्य की ओर से मिलने-वाली शिक्षा, आजीविका, स्वास्थ्य, न्याय आदि की सुविधाएँ सबके लिए समान रूप से रहें।

सार्वजनिक संस्थाओं के उपयोग सम्बन्धी समानता—धार्मिक स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में यह कहा जा चुका है कि स्कूल, चिकित्सालय और न्यायालय आदि के उपयोग का अधिकार सब धर्मों के नागरिकों को समान रूप से है। यहाँ इस बात को और भी व्यापक रूप में समझना चाहिए; अर्थात् जाति, रंग या सम्पत्ति के आधार पर भी इस विषय में भेद भाव नहीं किया जाना चाहिए। ये संस्थाएँ, नागरिकों की आवश्यकता के अनुसार, पर्याप्त संख्या में होनी चाहिएँ। अलग-अलग सम्प्रदाय या जातियों को अपनी जुदा-जुदा संस्थाएँ चलाने की यथासम्भव आवश्यकता न रहे; हां, यदि वे फिर भी ऐसा करना चाहें तो अपनी संस्था चलाने की उन्हें स्वतन्त्रता रह सकती है, परन्तु राज्य को उनकी सहायता करके उनमें एक दूसरे के प्रति ईर्षा और प्रतिद्वन्दिता के भावों को जाग्रत नहीं करना चाहिए।

सरकारी नौकरियाँ और पद—कोई राज्य अपने नागरिकों से कहाँ तक समानता का व्यवहार करता है, इसकी जाँच की एक प्रत्यक्ष कसौटी यह होती है कि वहाँ सरकारी नौकरियों या पदों के के लिए नियुक्तियाँ करने में किसी पक्षपात से तो काम नहीं लिया जाता। उदाहरण के लिए एक खजानची की आवश्यकता है, तो इसके लिए ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति होनी चाहिए जो हिसाब-किताब रखने में होशियार, तथा विश्वसनीय हो। बस, प्रत्येक व्यक्ति को, जिसमें यह योग्यता है, इस नौकरी के लिए प्रतियोगिता करने का अवसर मिलना चाहिए। जो सबसे अधिक योग्य समझा जाय, उसकी नियुक्ति की-जाय, और उसे निर्धारित वेतन दिया जाय। परन्तु कल्पना करो कि राज्य में ऐसा नियम है कि अमुक जाति या धर्म के, अथवा अमुक रङ्ग वाले आदमी ही नियुक्त हो सकते हैं तो इससे इस कार्य को कर-सकने वाले अन्य नागरिकों के साथ अन्याय होगा; और सर्वसाधारण की दृष्टि में राज्य का यह कार्य पक्षपात-पूर्ण होने से, उनकी राज्य से सहानुभूति कम रह जायगी। ज्यों-ज्यों ऐसी घटनाएँ अधिक होंगी, नागरिकों में राज्य के प्रति असन्तोष और विरोध के भावों की वृद्धि होती जायगी। इसलिए सरकारी नौकरियाँ या पद प्राप्त करने के लिए नागरिकों को समान अवसर मिलना चाहिए; जिनमें अधिक योग्यता हो, वह उन्हें प्राप्त कर ले; ऐसा न होना चाहिए कि कुछ नौकरियाँ या पद किसी विशेष व्यक्ति समूह के लिए सुरक्षित हों, और दूसरे नागरिक, योग्य होते हुए भी उन्हें प्राप्त करने से वंचित रखे जायँ।

ये बातें इतनी साधारण और तर्क-सगत हैं कि राजनैतिक विकास वाले राज्यों में इनके विरुद्ध कार्य होने की बात सुनकर अनेक पाठकों को बहुत आश्चर्य होगा। परन्तु संसार में सभी बातें बुद्धि-संगत नहीं होतीं। उदाहरण के लिए अनेक राज्यों में दो-दो व्यवस्थापक सभाएँ हैं, और, दूसरी सभा के सदस्य प्रायः अपनी किसी विशेष योग्यता के आधार पर निर्वाचित नहीं होते, उनकी 'योग्यता,' यदि इसे योग्यता

कहा जा सके, यह होती है कि वे किसी बड़े माने जानेवाले खानदान के हैं, वे 'बड़े' आदमियों के उत्तराधिकारी हैं। इस प्रकार ये सदस्य अपने पूर्वजों की योग्यता के आधार पर योग्य मान लिये जाते हैं, बहुत समय से माने जाते रहे हैं, और अभी निकट भविष्य में इस प्रथा के लोप होने की आशा नहीं होती। भिन्न-भिन्न लेखक और राजनीतिज्ञ भिन्न-भिन्न कारणों से इसका समर्थन करते रहते हैं; अभी लोकमत ऐसा जाग्रत नहीं हुआ कि भावनाओं और रूढ़ियों को छोड़ कर विशुद्ध युक्तियों से निर्णय करें। इस प्रकार नागरिकों की समानता का अधिकार अभी उन्नत राज्यों में भी पूरे तौर से नहीं माना जाता। वहाँ भी इसके लिए आन्दोलन की आवश्यकता है।

सोलहवाँ अध्याय

अधिकारों की प्राप्ति और सदुपयोग

नागरिक अधिकारों की घोषणा—हम पिछले अध्यायों में नागरिकों के विविध अधिकारों का वर्णन कर चुके हैं। प्रत्येक देश के नागरिकों को चाहिए कि वे यह विचार करें कि उन्हें ये अधिकार कहाँ तक प्राप्त हैं, और कहाँ तक प्राप्त होने शेष हैं। जिन नागरिकों को यथेष्ट अधिकार प्राप्त नहीं हैं, वे अपनी नागरिक स्थिति का विचार करके एक अधिकार-पत्र तैयार करें और उसमें वर्णित अधिकारों की घोषणा करें तथा उनका अपनी शासनपद्धति में समावेश कराएँ। ऐसा न होने से नागरिकों में तरह-तरह का संघर्ष उत्पन्न होना तथा द्वेष-भाव बढ़ते रहना स्वाभाविक है।

अधिकार प्राप्ति—विचारशील सज्जन अब यह अच्छी तरह समझने लग गये हैं कि अधिकार माँगने की वस्तु नहीं है; जो लोग स्वार्थ-

त्याग करते, कष्ट सहते और धैर्य-पूर्वक आन्दोलन करते हैं, उन्हें ही अधिकार मिलते हैं। अतः यदि सच्चा जीवन चाहते हो तो हमेशा अधिकार--प्राप्ति तथा अधिकार-रक्षा के लिए तैयार रहो। इस शुभ और महान कार्य में जो शक्ति तुम्हारी बाधक है, उससे धर्म-युद्ध करना पड़ेगा। निस्संकोच अपने धर्म का पालन करो। जो संकट और मुसीबत आवे उसका सहर्ष और सगर्व स्वागत करो। यदि कोई अधिकारी तुम्हारे इस कार्य में कुछ मनमानी करें तो चुपचाप बैठ कर अपनी कायरता का परिचय मत दो, वरन् बेचैन रह कर, अपने आन्दोलन द्वारा उन्हें भी अपनी बेचैनी से परिचित करके और अन्त में अपना लक्ष प्राप्त करके अपनी सजीवता का परिचय दो।

अधिकार-रक्षा---अधिकार प्राप्त कर लेना, और उनका शासनपद्धति में समावेश करा लेना बड़ी अच्छी बात है। परन्तु जब तक लोगों में स्वाधीनता और अधिकार-रक्षा की समुचित भावना न हो, उपर्युक्त कार्य का विशेष महत्व नहीं है। लोगों के अधिकार उसी दशा में सुरक्षित रहते हैं, जब वे निरन्तर इसके लिए सचेष्ट रहें, कभी भी इस ओर असावधानी या उदासीनता धारण न करें।

यद्यपि नागरिक के कुछ अधिकार ऐसे होते हैं, जिनका उससे व्यक्तिगत सम्बन्ध होता है, और जिसकी रक्षा वह अकेले ही कर सकता है, परन्तु कुछ दशाएँ ऐसी होती हैं, जब कि कोई नागरिक अकेला अपने अधिकार की रक्षा करने में समर्थ नहीं होता। उसे दूसरों के साथ मिलकर, संघ बनाने, और संगठन करने की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए यदि कोई मजदूर यह चाहे कि कारखाने के नियमों में सुधार हो, अथवा किसान यह चाहे कि जमींदार उस पर सख्तियाँ या अत्याचार न कर सके तो वह अकेला इसका समुचित उपाय न कर सकेगा। इस कार्य के लिए मजदूर-संघ और किसान-सभाओं आदि के संगठित होने की आवश्यकता होगी। ऐसे संगठन का उद्देश्य अपने उचित अधिकारों की रक्षा करना, होना चाहिए।

बेहतर है, कि प्रत्येक देश में नागरिक-अधिकार-रक्षक-संघ रहें। जितना कोई राज्य पूर्ण प्रजातंत्र के भावों से दूर है, उसमें उतनी ही ऐसे संघ की आवश्यकता अधिक है। इस संघ की शाखाएँ और उपशाखाएँ देश के भिन्न-भिन्न भागों में आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार रहें। इनका कार्य अपने-अपने क्षेत्र में नागरिक शिक्षा का प्रचार होना चाहिए। ये नागरिकों के हृदयों से जातीय पक्षपात, साम्प्रदायिक विद्वेष, मजहबी दीवानापन आदि को हटाकर उनमें नागरिकता और देश-प्रेम का भाव बढ़ावें, जिससे सब नागरिक संगठित होकर अपने अधिकारों की रक्षा करें।

ध्यान देने की बात—अधिकारों का समुचित उपभोग चाहनेवालों को एक बात कभी न भूलनी चाहिए—वह यह कि हमारे किसी काम से दूसरों का अहित न हो। जहाँ तक दूसरे के न्यायोचित अधिकारों में बाधा न पहुँचे, हम इस सृष्टि का आनन्द लेने में स्वतंत्र हैं। परन्तु इस सीमा को याद रखना और मर्यादा में रहना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। इसके अतिरिक्त हमें चाहिए कि हम दूसरों के भावों का समुचित आदर-मान करें, और, उन्हें उनके अधिकारों की प्राप्ति में यथाशक्ति सहायता दें। जो आदमी दूसरों के अधिकारों की अवहेलना करता या उन्हें निर्दयता-पूर्वक कुचलता है, समझ लो कि वह उस समय का आह्वान कर रहा है, जब वह अपने अधिकारों से वंचित कर दिया जायगा।

इसलिए प्रत्येक देश के नागरिकों को चाहिए कि वे अपने अधिकारों को प्राप्त करने या प्राप्त अधिकारों की रक्षा करने के साथ ही वे दूसरों के अधिकारों की रक्षा करके तथा उनके अधिकारों को प्राप्त करने में सहायक होकर अपनी मानवता का प्रमाण देवें। 'जीओ और जीने दो' की नीति में ही हमारा और हमारे संसार का भला है।

—

तीसरा भाग

नागरिकों के कर्तव्य

पहला अध्याय

कर्तव्यों का साधारण विवेचन

"कर्तव्य और अधिकार का परस्पर सम्बन्ध है; इतना ही नहीं, कर्तव्य के कारण ही अधिकार उत्पन्न होते हैं। यदि कर्तव्य न रहें तो अधिकार भी न रहेंगे।"

—गोपाल दामोदर तामस्कर

कर्तव्य-पालन—पिछले अध्यायों में, अधिकारों के सम्बन्ध में विचार हो चुका; अब कर्तव्यों का वर्णन किया जाता है। असल में मेरे अधिकार मुझे इसलिए प्राप्त हैं कि मैं अपनी उन्नति और विकास करने के साथ समाज की या राज्य की भी उन्नति और विकास में योग दूँ। जैसा कि इस पुस्तक के आरम्भ में बताया जा चुका है, मुझे राज्य से विविध प्रकार की सुविधाएँ और सुख मिलते हैं, तो मेरा भी कर्तव्य है कि मैं उसके लिए सुख और सुविधाएँ पहुँचाने का यथाशक्ति प्रयत्न करूँ। उदाहरणार्थ, राज्य में मेरे जान-माल की रक्षा होती है तो मुझे भी किसी के जान-माल पर आक्रमण या हस्तक्षेप न करना चाहिए, वरन् दूसरों की जान-माल की रक्षा में यथा सम्भव सहायक होना चाहिए। इसी प्रकार मुझे शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है तो यह आशा की जाती है कि मैं उस शिक्षा के द्वारा दूसरों को लाभ

पहुँचाऊँगा और इस तरह राज्य के ज्ञान-भंडार को बढ़ाने में यथाशक्ति योग दूँगा।

प्रत्येक नागरिक को अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। उसे यह न समझ लेना चाहिए कि यह कार्य स्वयं हो जायगा। खेद है कि अनेक आदमी जो राज्य में रहते हैं, अपने कर्त्तव्य-पालन की अवहेलना करते हैं। प्रत्येक राज्य में कुछ धनवान, पूँजीपति, जमींदार या महन्त आदि ऐसे होते हैं, जो राज्य के लिए कोई प्रत्यक्ष सेवा या उत्पादक कार्य नहीं करते। वे इस ओर ध्यान ही नहीं देते। वह समझते हैं कि किसी व्यक्ति विशेष का पुत्र या उत्तराधिकारी होने या किसी खास धर्म या सम्प्रदाय का गुरु या आचार्य हो जाने से उनका समाज और राज्य के प्रति सब ऋण स्वयं चुक जाता है। यह धारणा व्यक्ति और समाज दोनों की दृष्टि से हानिकर है।

कर्त्तव्य-पालन से व्यक्ति का हित—किसी को यह न समझना चाहिए कि दूसरों के प्रति पालन किया जाने वाला कर्त्तव्य हमारे लिए एक भार मात्र है, जिससे हमारा कोई हित साधन नहीं होता। हम जो कार्य या सेवा करते हैं, उससे हम कुछ-न-कुछ सीखते हैं, उससे हमें वह कार्य करना आता है, हमारी उस कार्य को करने की शक्ति बढ़ती है, तथा उसके करने में जिन गुणों की आवश्यकता होती है, उनका क्रमशः विकास होता है। प्रत्येक मनुष्य में कई प्रकार की शक्तियाँ और गुण होते हैं, उनमें से जिनका उपयोग होता है, उनके बढ़ने का अवसर मिल जाता है, अन्य शक्तियाँ और गुण काम में न आने से अविकसित रह जाते हैं और प्रायः लुप्त हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, आमतौर से मनुष्य में दूसरों के दुख से दुखी होने और उनसे सहानुभूति तथा दया का भाव रखने, दूसरों पर अत्याचार होते देख कर अत्याचारी से घृणा करने, स्वतंत्रता से प्रेम करने, अपनों या दूसरों की विजय पर प्रसन्न होने की आन्तरिक अभिलाषा होती है। [illegible] [illegible]

मनुष्य दूसरों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करता है, उसमें इन गुणों की वृद्धि होती है, उसके चरित्र, तथा शारीरिक, मानसिक और भौतिक शक्तियों का विकास होता है। इसके विपरीत, जो व्यक्ति आलस्य या कुसंस्कार आदि के कारण अपना कर्तव्य पालन नहीं करते, वे अपने विकास का मार्ग बन्द कर देते हैं, वे साधारण स्थिति में पड़े रह जाते हैं।

कर्तव्य-पालन से समाज का हित—नागरिकों के कर्तव्य-पालन से समाज या राज्य का हित दो प्रकार से होता है। जो कर्तव्य नागरिक, उनके प्रति पालन करते हैं, उनसे तो उनका हित होना स्पष्ट ही है। इसके अतिरिक्त जो कर्तव्य वे अपने प्रति पालन करके अपनी उन्नति या विकास करते हैं, उनसे भी परोक्ष रूप से समाज का हित साधन होता है; कारण, समाज व्यक्तियों का ही तो बना है, जब उसके भिन्न-भिन्न अंगों, अर्थात् व्यक्तियों की उन्नति होगी तो उसकी समष्टि रूप से भी उन्नति हो जायगी। दृष्टान्त लीजिए। जब मकान की प्रत्येक ईंट मजबूत और सुघड़ होगी तो मकान के अच्छा होने में क्या संदेह है। इसी प्रकार व्यक्तियों के अपने प्रति कर्तव्यपालन करने से भी समाज का हित साधन होता है।

क्या कर्तव्य-पालन की सीमा है ?—मनुष्य को कर्तव्य-पालन कहाँ तक करना चाहिए ? क्या वह केवल उस सीमा तक ही कर्तव्यों का पालन करे, जहाँ तक वे सरल और सुगम हों, जिनके पालन में उसे कोई कठिनाई प्रतीत न हो ? क्या मनुष्य का कार्य आत्म-त्याग और बलिदान पूर्ण न होना चाहिए ? समय-समय पर भिन्न-भिन्न देशों में ऐसे महात्मा पुरुष हो गये हैं, जिन्होंने अपना सर्वस्व समाज या राज्य के हित अर्पण कर दिया। उनके प्रशंसनीय कार्य इतिहास के सुनहले पृष्ठों पर लिखे हैं। सहस्रों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी उनकी स्मृति बनी हुई है। कवि, लेखक एवं सर्वसाधारण भिन्न-भिन्न रूप से

उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में भी संसार ऐसे महापुरुषों से वंचित नहीं है, जो परोपकार के लिए न केवल अपने वैभव और ऐश्वर्य का त्याग कर रहे हैं, वरन् आवश्यकता होने पर अपने प्राणों की भेंट चढ़ाने को हर समय उत्सुक रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि मनुष्यों के कर्तव्य की कोई सीमा नहीं है, वह दूसरों के लिए न केवल अवकाश का समय या संचित धन दे सकता है और निस्वार्थ सेवा कर सकता है, वरन् अपनी जान जोखिम में डाल सकता है और अपने प्राण तक न्योछावर कर सकता है।

कर्तव्य-पालन का समय—क्या मनुष्य के जीवन में कर्तव्य-पालन का कोई खास समय है? क्या यह कहा जा सकता है कि अमुक उम्र का होने पर मनुष्य को अपना कर्तव्य-पालन करना चाहिए! नहीं, जब से वह होश सम्भालता है, तभी से उसके कर्तव्य आरम्भ हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों उसकी शक्ति, योग्यता और आयु बढ़ती है, त्यों-त्यों उसके कर्तव्य का क्षेत्र विस्तृत होता जाता है। कर्तव्य-पालन के लिए जिस प्रकार हमारी आयु का कोई खास भाग निर्धारित नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार हमारे जीवन के किसी वर्ष का कोई महीना, या महीने का दिन आदि भी ऐसा नहीं बताया जा सकता, जब हमें अन्य कामों से छुट्टी हो और उस समय हम कर्तव्य-पालन करने में लगें। हम दिन रात हर समय जो कार्य करते हैं, उसका प्रभाव दूसरों पर पड़ता है। यदि हमारी दिन-चर्या, हमारा व्यवहार अच्छा है, तो उसे देखकर उसका अनुकरण करनेवाले उससे लाभ उठावेंगे; यदि वह बुरा है तो सम्भव है, जिनसे उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, वे भी उसे केवल देखकर ही बड़ी हानि उठा लें। इस प्रकार हमारे कर्तव्य-पालन की परीक्षा हर घड़ी होती रहती है। हमें सदा सतर्क रहना चाहिए। इस विचार से हमें हमेशा ही अच्छा कार्य करना चाहिए; हमारे कर्तव्य-पालन का कोई समय निर्धारित नहीं है।

कर्तव्य-पालन और स्वतंत्रता—कुछ नागरिक कभी-कभी यह समझते हैं कि कर्तव्यों के बन्धन में पड़ने से हमारी स्वतन्त्रता में बाधा उपस्थित होती है। यह बड़ी भूल है। उन्हें कर्तव्य-पालन में उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। वास्तव में नागरिकों के सामूहिक हित की रक्षा के लिए ही तो कर्तव्य निर्धारित किये जाते हैं। यदि कोई नागरिक मनमानी उद्दण्डता और स्वेच्छाचारिता का व्यवहार करे, और उसे रोका न जाय तो दूसरों में भी वैसी ही भावना का उदय होना स्वाभाविक है। इससे समस्त समाज के अपने उचित कर्तव्यों के पालन (तथा अधिकारों के उपयोग) में बड़ी बाधा उपस्थित होगी, और अन्त में अव्यवस्था तथा अराजकता बढ़ जाने से नागरिक जीवन की बड़ी दुर्दशा होगी। इसलिए नागरिकों को कर्तव्य-पालन की ओर समुचित ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। हमें अपने सुख या सुविधा का कार्य उस सीमा तक ही करना उचित है जहाँ तक दूसरों की उन्नति में बाधा न हो। हमें दूसरों के स्वार्थों का समुचित ध्यान रखना चाहिए, और कोई ऐसा कार्य न करना चाहिए, जिसे यदि दूसरे नागरिक भी करने लगें तो नागरिक जीवन क्षुब्ध हो जाय। इस प्रकार सब आदमियों के अपना-अपना कर्तव्य-पालन करने से ही सब की स्वतन्त्रता में सहायता मिलती है।

कर्तव्यों का वर्गीकरण—नागरिकों के परस्पर में भिन्न-भिन्न प्रकार के सम्बन्ध होते हैं; कोई हमारा भाई या बहिन है, कोई हमारी माता या पिता है, कोई हमारे गाँव या नगर का निवासी है—इन सबके प्रति हमारे भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्तव्य होते हैं। इसी प्रकार कहीं धार्मिक सम्बन्ध से कुछ कर्तव्य-पालन करता है, और कहीं सामाजिक सम्बन्ध से। राज्य हमारी उन्नति और सुख-शांति में सहायक होता है, उसके प्रति भी हमारे कुछ कर्तव्य हैं। पुनः इन कर्तव्यों के पालन करने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी शारीरिक तथा मानसिक आदि

उन्नति करें, अर्थात् अपने प्रति भी उचित कर्तव्यों का पालन करें। इस प्रकार नागरिक कर्तव्य विविध प्रकार के हैं। अगले अध्यायों में हम उनका क्रमशः विचार करेंगे।

कर्तव्यों के वर्गीकरण का कोई विशेष सर्वमान्य नियम या स्वरूप नहीं है। बहुधा एक प्रकार के कर्तव्यों का दूसरे प्रकार के कर्तव्यों से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है; और बहुत से कर्तव्यों के विषय में यह निश्चय करना भी कठिन होता है कि उन्हें किस वर्ग में रखा जाय। भिन्न-भिन्न लेखक अपने विचार या वर्णन की सुविधा के अनुसार अलग-अलग रीति से उनका वर्गीकरण कर लेते हैं।

दूसरा अध्याय

अपने प्रति कर्तव्य

"जो लोग अपना ऋण अपने आप को पूरी तरह से अदा कर देते हैं, उनके तीनों ऋण (परमेश्वर की तरफ, मनुष्य मात्र की तरफ, मातृभूमि की तरफ) खुद-ब-खुद अदा हो जाते हैं।"

—स्वामी राम

अपने प्रति कर्तव्य पालन करने का महत्व—अपनी इच्छा से हो, अथवा लोकमत आदि के विचार से हो, अनेक आदमी दूसरों के प्रति पालन किये जानेवाले कर्तव्यों पर तो कुछ ध्यान रखते हैं, परन्तु वे भूल जाते हैं कि उन्हें स्वयं अपने प्रति भी कुछ कर्तव्यों का पालन करना है। तनिक विचार किया जाय तो मालूम हो जायगा कि जिस प्रकार हमें दूसरों के साथ न्याय, दया और [illegible]

का व्यवहार करना चाहिए, उसी तरह हमें अपने प्रति भी समुचित न्याय आदि करने की आवश्यकता है। यदि हम अपनी शक्तियों का ईमानदारी से उपयोग नहीं करते, हम उनका दुरुपयोग करते हैं, तो चूँकि हम अपने राज्य के एक अंग हैं, और हमारी उन्नति पर राज्य की उन्नति निर्भर है, अपने प्रति अवहेलना करने से, हम परोक्ष रूप से राज्य के प्रति अवहेलना करते हैं। इसके विपरीत, अपनी विविध प्रकार की योग्यता बढ़ाने और शक्तियों का विकास करने से, हम एक सीमा तक राज्य के और समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं। इस प्रकार, अपने प्रति अन्याय करना गौण रूप से दूसरों के प्रति अन्याय करना हो जाता है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि जितना अधिक कोई नागरिक स्वयं उन्नत होगा, उतना ही अधिक वह दूसरे नागरिकों की उन्नति में सहायक हो सकता है। अतः प्रत्येक नागरिक को अपनी शारीरिक, मानसिक और आर्थिक आदि उन्नति की ओर यथेष्ट ध्यान देना चाहिए।

शारीरिक उन्नति—विविध कर्तव्यों के पालन करने का प्रधान साधन हमारा शरीर है। इसके रोगी हो जाने पर हम स्वयं तो अपना उत्तरदायित्व निभाने में असमर्थ हो ही जाते हैं, साथ में अपने निकटवर्ती सम्बन्धियों के कार्य में भी बाधा डालते हैं। हम अपनी सेवा-शुश्रूषा कराने में उनका बहुत-सा ऐसा समय और शक्ति खर्च करा देते हैं, जिससे वे दूसरा उपयोगी कार्य कर सकते थे। इस प्रकार अस्वस्थ होना एक अपराध है।

हमारी अधिकांश बीमारियों का कारण प्रायः हमारी असावधानी ही होती है। नियमानुसार दिनचर्या रखने से, अर्थात् जल, वायु, भोजन, वस्त्र, व्यायाम, विश्राम, संयम तथा ब्रह्मचर्य आदि का समुचित ध्यान रखने से हमारा शरीर प्रायः निरोग और हृष्ट-पुष्ट रह सकता है। इन बातों का ज्ञान दुर्लभ नहीं है, तथापि इनका पालन बहुत कम

होता है। जब कोई आदमी अपनी किसी सुविधा या रुचि का विचार करके अनियमित जीवन व्यतीत करता है, तब उसे शीघ्र या कुछ देर में प्रत्यक्ष या परोक्ष में अपने अपराध का दंड भुगतना होता है, किसी प्रकट या गुप्त बीमारी का शिकार होना पड़ता है। उदाहरण के लिए पान, बीड़ी, सिग्रेट, भांग या मद्यपान आदि व्यसनों के वातावरण में रहकर, आदमी में इन दुर्गुणों का आना सहज है। इससे उसके स्वास्थ्य तथा चरित्र की बहुत हानि होती है। आवश्यकता है कि जिस बात को हम वास्तव में बुरी समझते हैं, उसे यह सोचकर न करने लगें कि हमारे मित्र ऐसा कर रहे हैं और वे हमसे भी वैसा करने का अनुरोध करते हैं। यह भी विचार नहीं होना चाहिए कि एक बार या एक ही दिन गलती करने में कुछ हर्ज नहीं। हमें खूब अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि इस एक दिन और एक बार की छोटी-सी बात में ही हमारे आत्मबल की परीक्षा हो चुकेगी, यदि हम इसमें उत्तीर्ण न हुए तो हमारे पतन या गिरावट का रास्ता साफ हो जायगा। अस्तु, नागरिकों को अपने स्वास्थ्य की रक्षा के लिए सदा प्रयत्न करते रहना चाहिए।

मानसिक उन्नति—शारीरिक शक्ति बढ़ाने के साथ-साथ मानसिक उन्नति की भी बड़ी आवश्यकता है। हमें याद रखना चाहिए कि जैसे हमारे विचार होते हैं, बहुत-कुछ वैसे ही हम बन जाते हैं इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने मन पर कड़ा पहरा देने की आवश्यकता है कि उसमें कोई बुरा विचार न घुसने पावे। प्रति दिन ही नहीं, हर घड़ी उसमें अच्छे विचारों को ही स्थान मिले। पास बैठने-उठने वाले मित्रों तथा पढ़ी जानेवाली पुस्तकों के चुनाव में यथेष्ट सावधानी बरतने की आवश्यकता है। हमें अपना आदर्श या उद्देश्य ऊँचा रखना चाहिए। अपने को निकम्मा या अयोग्य न समझना चाहिए। हमें सदैव ऐसा विचार रखना चाहिए कि हम समाज और राष्ट्र के एक आवश्यक अंग हैं, हम अपनी शक्ति और योग्यता बढ़ाने के साथ-साथ उनके निर्माण, रक्षा और उन्नति तथा सुधार में यथेष्ट भाग लेंगे

शिक्षा और सदाचार—प्रत्येक व्यक्ति से यह तो आशा नहीं की जा सकती कि वह बहुत ही विद्वान् या पंडित होगा, परन्तु प्रत्येक नागरिक को इतनी शिक्षा तो प्राप्त कर लेनी ही चाहिए, जिससे वह रोजमर्रा के लिखने-पढ़ने के कामों के लिए दूसरों का आश्रित न रहे, और विविध लेखकों के समयोपयोगी और उच्च विचार जान सके। शिक्षा का अर्थ केवल अक्षर-ज्ञान ही नहीं है; केवल लिखना-पढ़ना सीख लेने से ही कोई व्यक्ति शिक्षित नहीं समझा जाना चाहिए। शिक्षा का अभिप्राय नागरिकों की विविध शक्तियों का यथेष्ट विकास करना और उन्हें जीवन-संग्राम के लिए उपयुक्त बनाना है।

नागरिकों को सदाचारी होने की भी बड़ी आवश्यकता है। सदाचार-हीन मनुष्य पशु के समान है; नहीं-नहीं, उससे भी गया बीता है। प्रत्येक नागरिक को सच्चरित्र, सत्संग, शिष्टाचार, सत्यता, मधुर भाषण आदि सद्गुणों का व्यवहार करते रहना चाहिए। इनका प्रभाव हमारे मन के अतिरिक्त शरीर पर भी बहुत पड़ता है। जो आदमी क्रोधी, चिड़चिड़े, कायर, ईर्षालु, दुश्चरित्र होते हैं, वे प्रायः प्रसन्न या स्वस्थ नहीं रहते। इसलिए इस ओर, और भी अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

आर्थिक उन्नति; स्वावलम्बन—यदि हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों पर भार-स्वरूप रहें तो हमारे बहुत से गुण स्वयं नष्ट हो जाते हैं। कहा है कि भूखा आदमी क्या पाप नहीं करता! जो मनुष्य अपना (या अपने परिवार का) पेट पालने के लिए दूसरों के आश्रित रहता है, उसमें मिथ्या-भाषण, मिथ्या-स्तुति, हाँ-हजूरी और खुशामद आदि दुर्गुण हो जाते हैं। उसमें स्वाभिमान और निर्भयता का भाव नहीं रह सकता। इसलिए सबके वास्ते स्वावलम्बी होना आवश्यक है।

यह बात बहुत ही खराब है कि कोई आदमी बैठे-बैठाए मुफ्त में रोटी-कपड़ा पाता रहे। वास्तव में केवल अंधे, लूले, लगड़े आदि

अपाहिज को ही अपने तईं दया का पात्र मानना चाहिए। इनके अतिरिक्त किसी आदमी को दूसरे के परिश्रम से कमाये हुए धन का उपयोग न करना चाहिए। यही नहीं; हम तो यहाँ तक कहेंगे कि पैत्रिक धन, जायदाद, अथवा दान-धर्म या रिश्वत की आय पर मौज उड़ाना भी ठीक नहीं है। मानवी गुणों के सद्विकास के लिए शारीरिक या मानसिक श्रम करते रहना बहुत आवश्यक है।

मानसिक और शारीरिक कार्य—कुछ सज्जनों का मत है कि अपनी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति को कुछ-न-कुछ शारीरिक परिश्रम करना चाहिए। उनके मत से जीवन-निर्वाह के लिए मानसिक शक्तियों का उपयोग करना तो उनका दुरुपयोग करना है। इस दृष्टि से सम्पादकों, लेखकों, अध्यापकों, उपदेशकों आदि को अपने-अपने श्रम के बदले कुछ धन न लेना चाहिए; हाँ, समाज उनके निर्वाह की व्यवस्था करे। हो सकता है कि यह आदर्श प्राचीन भारत में बहुत कल्याणकारी रहा हो, और विशेष दशा में अब भी यह लाभदायक हो, परन्तु हम समझते हैं कि मौजूदा हालत में यह बहुत व्यावहारिक नहीं है। हमारे मत से मानसिक कार्य करनेवालों को शारीरिक कार्य करने पर बाध्य न किया जाना चाहिए। अस्तु, हमें यही कहना है कि मुफ्त की रोटी कोई न खाय। प्रत्येक व्यक्ति व्यापक अर्थ में श्रमजीवी हो, वह चाहे मानसिक कार्य करे या शारीरिक। हाँ, शारीरिक कार्य करनेवाले को मानसिक कार्य करनेवाले निम्न श्रेणी का समझें, यह अन्याय है। देश और समाज के लिए विविध प्रकार के कामों की आवश्यकता होती है; जो आदमी किसी उपयोगी कार्य द्वारा, अपना निर्वाह करते हैं, वे सब नागरिकता के नाते समान आदरणीय हैं। निदान, स्वावलम्बन नागरिकों का एक आवश्यक कर्तव्य है।

भारतवर्ष में साधु महात्मा कहे जानेवाले अनेक आदमी [illegible] इस कर्तव्य का पालन नहीं करते, फिर भी वे [illegible]

जाते हैं। इस विषय के प्रचलित विचारों में आमूल परिवर्तन होने की आवश्यकता है।

मितव्ययिता और सादगी—बहुत कम नागरिक किफायत से काम करना और सादगी का जीवन बिताना अपना आवश्यक कर्तव्य समझते हैं। बहुधा यह कहा जाता है कि, जब मिलता है तो क्यों न खायें, पीयें, मौज करें। अब तो मजे से गुजर जाय, आगे की भाग्य-भरोसे।' ऐसी बातों से नागरिकों की कम-समझ तथा अदूर-दर्शिता जाहिर होती है। उन्हें ध्यान रखना चाहिए कि सादगी के जीवन का उच्च विचारों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। फिर आज हम स्वस्थ हैं, धनोत्पादन कर रहे हैं; कौन जाने, कल हम बीमार हो जायँ, अथवा आजीविका की प्राप्ति कठिन हो जाय, या कोई दुर्घटना हो जाय, और हमें दूसरों के आगे हाथ पसारना पड़े। इस लिए केवल यही आवश्यक नहीं है कि हम अपनी आय में काम चलावें, और किसी से कभी ऋण न लिया करें, वरन् हमें चाहिए कि हर माह कुछ बचत करने की आदत डालें; जिससे जमा किया हुआ धन संकट आदि के समय हमारे (या दूसरों के) काम आये।

तीसरा अध्याय

परिवार के प्रति कर्तव्य

"उदारता घर से शुरू होती है; हाँ, वह वहीं समाप्त नहीं होनी चाहिए।"

हमारा पारिवारिक सम्बन्ध—दूसरे मनुष्यों से हमारे जो तरह-तरह के सम्बन्ध हैं, उनमें पारिवारिक सम्बन्ध सब से मुख्य

और घनिष्ठ है। इस सम्बन्ध को अन्य सम्बन्धों का आधार कहा जा सकता है; यदि यह सम्बन्ध न हो तो हमारा अन्य मनुष्यों से बहुतसा सम्बन्ध होने की न नौबत ही न आये। परिवार के प्रति नागरिक का क्या कर्तव्य है, इसका उल्लेख इस पुस्तक के आरम्भ में किया जा चुका है, यहाँ परिवार के भिन्न भिन्न सदस्यों के प्रति पालन किये जानेवाले कर्तव्यों का कुछ ब्योरेवार विचार किया जाता है। पहले, माता-पिता के प्रति नागरिक के क्या कर्तव्य हैं, इसका विचार करते हैं।

माता-पिता के प्रति कर्तव्य—कोई नागरिक अपने माता-पिता से उऋण नहीं हो सकता। नागरिक का कर्तव्य है कि वह माता-पिता की समुचित सेवा-शुश्रूषा करे। उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न होने दे। यही नहीं, हमें ध्यान रखना चाहिए कि बुढ़ापे में उन्हें यथेष्ट विश्राम मिले, उन्हें शारीरिक या मानसिक किसी प्रकार का कड़ा परिश्रम न करना पड़े। उनकी बीमारी की दशा में उनकी यथासम्भव दवा-दारू की जाय। और, जहाँ तक बने उन्हें प्रसन्न और संतुष्ट रखा जाय, तथा उनका आदर-मान किया जाय।

जब तक किसी व्यक्ति को अपना भला-बुरा समझने की योग्यता न हो, उसे अपने माता-पिता की सभी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। सयाने होने पर हमें विचार करना चाहिए कि उनकी कोई आज्ञा ऐसी तो नहीं है, जो नीति-विरुद्ध हो, या हमारी आत्मा को स्वीकार न हो, या जो हमारे नागरिक उत्तरदायित्व को निभाने में बाधक हो। ऐसी आज्ञा को मानने के लिए हम बाध्य नहीं हैं, उसका विरोध करना हमारा कर्तव्य है। हाँ, वैसी आज्ञा देते समय भी माता-पिता हमारे आदर और भक्ति के अधिकारी हैं। हमें उनके सदैव नम्रता और शिष्टाचार का व्यवहार करना चाहिए। अनुचित आज्ञा की अवहेलना करते समय भी हमारे आदर-भाव में कोई कमी न आनी चाहिए। हमें चाहिए कि हम जहाँ

विनय-पूर्वक उन्हें समझावें, और यदि वे फिर भी ऐसा ही आदेश करें तो हम नम्रता से उसे अस्वीकार करें।

पति का स्त्री के प्रति कर्तव्य—पति स्त्री को अपने भोग-विलास का साधन न समझले; वह उसके शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए उत्तरदायी है। भारतीय साहित्य में स्त्री को पुरुष की अर्द्धाङ्गिनी कहा गया है। पति को ध्यान रखना चाहिए कि वह अपने इस 'आधे अंग' की अवहेलना करके जीवन-संग्राम में यथेष्ट सफलता नहीं पा सकता। यदि वह उसे अपने उच्च विचारों, आदर्शों और आकांक्षाओं में साझीदार नहीं बनाता तो उसे न केवल उससे कोई सहायता न मिलेगी, वरन् पद-पद पर अनेक बाधाएँ मिलने की सम्भावना होगी। इसलिए जहाँ तक बने, वह अपनी स्त्री की उन्नति में सहायक हो; साथ ही वह यह भी अहंकार न करे कि मैं प्रत्येक विषय में स्त्री से अधिक ज्ञानवान हूँ। उसे चाहिए कि इस बात का विचार करे कि जो गुण स्त्री में विशेष हों, वह उससे लेवे. इस प्रकार के व्यवहार से ही वह अपनी स्त्री के गुणों के विकास और उसकी योग्यता की वृद्धि में ऐसी सहायता दे सकता है, जिसे देना उसका कर्तव्य है।

स्त्री का पति के प्रति कर्तव्य—स्त्री को समझ लेना चाहिए कि वह पुरुष के शारीरिक अथवा पाशविक सुख की सामग्री नहीं है, और न वह उससे केवल रोटी-पानी या वस्त्राभूषण पाने की अधिकारी है। स्त्री पुरुष को शारीरिक सुख के साथ मानसिक और आत्मिक शांति को प्रदान करनेवाली महान् विभूति है; उसके पुरुष से भोजन-वस्त्रादि लेने की बात तो गौण विषय है। और, अच्छा हो, प्रत्येक स्त्री में थोड़ा-बहुत आर्थिक स्वतन्त्रता का भाव हो, उसे कोई ऐसा कार्य आता हो, जिससे वह आवश्यकता होने की दशा में अपना निर्वाह स्वयं कर सके, दूसरों का मुँह न ताकती रहे। अस्तु,

स्त्री को चाहिए कि वह पति की वास्तव में अर्द्धाङ्गिनी हो, उसके सुख-दुख में साथी हो, उसकी उन्नति में सहायक हो, अपनी उन्नति के लिए उससे समुचित सहायता ले, और घर के काम-धन्धे को ऐसी चतुराई से सम्भाले तथा घर की अन्य स्त्रियों से ऐसा बात व्यवहार करे कि पति को उस विषय में विशेष चिन्ता न करनी पड़े। वह मितव्ययी, सहनशील और उदार-प्रकृति हो, तथा घर में शांति, सुख और संतोष की वर्षा करनेवाली हो। इस प्रकार जहाँ तक उसका सम्बन्ध है, उसे नागरिक जीवन को उन्नत और विकसित करने में भागीदार होना चाहिए।

सन्तान के प्रति कर्तव्य—हमारे बच्चे देश के भावी नागरिक हैं; उनकी शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति करना हमारा कर्तव्य है। प्रत्येक व्यक्ति जैसा बचपन में देखता, सुनता और अनुभव करता है, उसका प्रभाव उसपर जन्म भर रहता है। इसलिए माता-पिता को बड़ी सावधानी से व्यवहार करना चाहिए, और अपनी सन्तान की—लड़का हो चाहे लड़की—शक्तियों को विकसित होने का काफी अवसर देना चाहिए। प्रत्येक पुरुष और स्त्री का कर्तव्य है कि वह अपने बच्चों को उपदेश से नहीं, आचरण और उदाहरण द्वारा शिक्षा देकर अधिक से अधिक योग्य, स्वस्थ, शिक्षित और सदाचारी बनाये। यही सब से बड़ी और सब से उत्तम विरासत है, जो कोई नागरिक अपने राज्य और समाज के लिए छोड़ सकता है।

माता-पिता के अलावा, घर में चाचा ताऊ, चाची ताई, तथा बड़े भाई, बहिन आदि का भी व्यवहार ऐसा नहीं होना चाहिए, जिससे उनके कोमल हृदय पर कुछ खराब असर पड़े। बड़े होने पर मनुष्य में बहुत कम परिवर्तन होते हैं। बालक को जैसा चाहे, बहुत-कुछ वैसा बनाया जा सकता है। इसलिए जिस किसी का, बालक के पालन-पोषण आदि से कुछ सम्बन्ध है, उसे चाहिए कि बालक को मनुष्यत्व प्राप्त करने का समुचित अवसर दे, उसकी यथेष्ट सहायता करे, जिससे

उसकी आदतें, आचार-विचार, व्यवहार सब निर्दोष हों। यदि बालक बड़ा होकर बिगड़ जाय तो इसके लिए वह स्वयं दोषी है। परन्तु सम्भावना प्रायः यही होती है कि यदि आरम्भ में उसमें मनुष्यत्व (इन्सानियत) आगयी तो वह मनुष्य रहेगा, और संसार के विस्तृत क्षेत्र में अपने कर्तव्य का समुचित पालन करेगा।

भाई और बहिन के प्रति कर्तव्य—प्रत्येक भाई और बहिन को याद रखना चाहिए कि वे एक ही माता-पिता की सन्तान हैं। एक ही पिता ने उनका भरण पोषण किया, एक ही माता का दूध पीकर वे बड़े हुए हैं। अतः उन्हें आपस में प्रेम से रहना चाहिए। इससे उनके माता पिता को भी आनन्द मिलेगा और घर में सुख शान्ति की वृद्धि होगी। इसके विपरीत, जब माता पिता यह देखते हैं कि उनकी सन्तान आपस में लड़ती-झगड़ती है, एक दूसरे की सहायता नहीं करती, आपस में ईर्ष्या द्वेष का भाव रखती है तो उन्हें बड़ा कष्ट होता है। अच्छे लड़के लड़कियाँ अपने भाई-बहिनों की सेवा और सहायता करने में कोई कसर नहीं उठा रखते।

अन्य सम्बन्धियों के प्रति कर्तव्य—बहुत से परिवारों में, विशेषतया जिन समाजों में हिन्दुओं की भांति संयुक्त परिवार की परिपाटी है, और भी कई सम्बन्धी होते हैं। उदाहरण के लिए किसी घर में एक व्यक्ति के चचा चाची, या ताऊ ताई अथवा भाई भौजाई या भतीजा भानजा आदि हो सकते हैं। इनमें से प्रत्येक के विषय में अलग-अलग कहने की कुछ आवश्यकता नहीं। संक्षेप में, बड़ों को हमें माता-पिता के समान, और छोटों को अपनी सन्तान के समान समझना चाहिए; सबकी सुख शान्ति में अपनी उन्नति और विकास मानना चाहिए। दूसरों की जितनी सेवा या सहायता करने का, हम अपने परिवार में अभ्यास करेंगे, उतना ही हम अपने तथा दूसरों के नागरिक जीवन को उत्तम बनाने में भागीदार होंगे।

विवाह सम्बन्धी विचार—पति का स्त्री के प्रति, स्त्री का पति के प्रति, और, इन दोनों का संतान के प्रति पालन किये जानेवाले कर्तव्य का प्रश्न उसी दशा में उपस्थित होता है, जब—साधारणतया, सभ्यावस्था में—स्त्री पुरुष का विवाह सम्बन्ध हो। अतः विवाह के विषय में कुछ बातों का विचार करना आवश्यक है। विवाह सम्बन्ध एक बड़ा महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। बहुधा पुरुष और स्त्री का भावी जीवन सफल या विफल होना बहुत-कुछ इस पर निर्भर होता है। अतः यह सम्बन्ध बहुत विचार-पूर्वक किया जाना चाहिए। यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसी उम्र में, या ऐसी शारीरिक या आर्थिक स्थिति में यह सम्बन्ध न होना चाहिए, जब कि वे इसका उत्तरदायित्व न समझते हों, या विवाहित जीवन के कर्तव्यों को पालन करने में असमर्थ हों। इस सम्बन्ध के होने में विशेषतया उन्हीं व्यक्तियों (स्त्री और पुरुष) की सम्मति मुख्य समझी जानी चाहिए, जिनका इससे सम्बन्ध है। हाँ, बहुधा बाल्यावस्था में ही नहीं, युवावस्था में भी, इनमें यथेष्ट अनुभव और गम्भीरता नहीं होती, इसलिए उन्हें अपने माता पिता या अन्य हितैषियों से आवश्यक परामर्श ले लेना चाहिए।

भारतवर्ष में कन्या की सोलह वर्ष की, और लड़के की पच्चीस वर्ष की उम्र विवाह योग्य मानी गयी है; परन्तु अज्ञान के कारण अनेक दशाओं में बाल-विवाह अथवा बेमेल विवाह हो जाते हैं, जिसका बुरा नतीजा विवाहित स्त्री पुरुष को ही नहीं, उनके अन्य सम्बन्धियों तथा समाज और देश को भुगतना पड़ता है। वर-वधु की शारीरिक, मानसिक तथा आर्थिक अवस्था विवाह के अनुकूल होनी चाहिए। बहुधा माता-पिता इन बातों का विचार न कर अपनी सन्तान का जैसे-तैसे विवाह कर देना अपना अनिवार्य कर्तव्य मान बैठते हैं, यह अनुचित है। प्रायः स्त्रियों पर बहुत ही दबाव डाला जाता है, उन्हें अपनी इच्छा प्रकट करने का अवसर नहीं दिया जाता; और, अनेक स्त्रियों का तो उनकी स्पष्ट इच्छा के विरुद्ध ही विवाह कर दिया जाता है।

वे लोगों के स्वार्थ, लोभ, परम्परा या अन्ध विश्वास की शिकार होती हैं। स्त्रियों और पुरुषों को अनुचित सम्बन्ध से बचना चाहिए, जिससे गृहस्थ-जीवन अच्छा हितकर और सुखदाई हो।

गृहस्थ और समाज—गृहस्थ आश्रम से परिवार बनता है, और परिवारों के समूह से समाज संगठित होता है। परिवार मानो समाज की एक इकाई है। इस प्रकार समाज का आधार गृहस्थ है। अतः हमें यह विचार कर लेना चाहिए कि गृहस्थ से समाज की उन्नति अवनति का कहाँ तक सम्बन्ध है। पुरुषों और स्त्रियों को गृहस्थ में प्रवेश करने की स्वभावतः इच्छा होती है। एक अवस्था आती है, जब प्रायः पुरुष स्त्री के बिना, और स्त्री पुरुष के बिना अपने जीवन में अपूर्णता का अनुभव करती है। वे गृहस्थी बनने के लिए बेचैन हो जाते हैं। इसलिए गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने की प्रवृत्ति को दमन किया जाना अस्वाभाविक और हानिकारक है। कुछ लोगों का विचार होता है कि जिन्हें परोपकार और सेवा-कार्य में लगना हो, उन्हें तो कुँवारा या ब्रह्मचारी ही रहना चाहिए; गृहस्थ की चिन्ता और उत्तरदायित्व से लोक-सेवा में बाधा पड़ती है। निस्सन्देह, इस कथन में कुछ सचाई है, और हम उन संन्यासी महात्माओं को नहीं भूलते, जिन्होंने गृहस्थ में न आकर संसार की अपार सेवा की है। परन्तु स्मरण रहे कि वे साधु महात्मा विशाल मानव जनता में अपवाद मात्र हैं। सर्वसाधारण के लिए उनका अनुकरण न सम्भव है, और न वांछनीय ही है। फिर, सेवा और परोपकार करने की लगन रखनेवालों ने इस आश्रम में आकर भी यथासम्भव महान् कार्य किया है। संन्यासियों तथा अन्य सेवा-व्रती महात्माओं का भरण-पोषण इन्हीं पर निर्भर होता है, और इस प्रकार उनकी सेवा का बहुत-कुछ यश गृहस्थियों को ही है।

निदान, कुछ विशेष व्यक्तियों को छोड़कर, सर्वसाधारण के लिए

गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना और पारिवारिक जीवन बिताना ही अच्छा है, और समाज के हित की दृष्टि से भी उपयोगी है।

गृहस्थ और नागरिकता—युवक या विद्यार्थी नागरिकता के बड़े-बड़े सिद्धान्तों की बातें पढ़ते सुनते हैं और सोचा करते हैं। उन सिद्धान्तों को अमल में लाने का अवसर खासकर गृहस्थाश्रम में मिलता है। विवाहित जीवन का लक्ष्य है कि नर और नारी एक-दूसरे के स्वभाव, आदर्श या रुचि के साथ मेल बैठावें, सामंजस्य स्थापित करें; और, एक दूसरे के विकास में सहायक हों। उन्हें एक दूसरे के वास्ते, और दोनों को सन्तान के वास्ते सेवा, उदारता, और त्याग करना पड़ता है, तथा कष्ट सहना होता है। जब वे परिवार में इन गुणों का अभ्यास करते हैं तो वे जीवन के व्यापक क्षेत्र में, समाज के लिए भी अपनी उपयोगिता बढ़ा लेते हैं।

स्त्री-पुरुष अपने मतभेद के प्रश्नों को स्वयं निपटाते हैं। प्रत्येक यह अनुभव करता है कि दूसरे में कुछ दोष होने पर भी मुझे उसके साथ निभाना है, उसे छोड़ कर अलग नहीं होना है, उसे कष्ट पहुँचाना स्वयं अपने-आपको कष्ट पहुँचाना है। इससे यह शिक्षा मिलती है कि देश के भिन्न-भिन्न जाति या धर्मों के, आदमी भी ऐसे ही भावों का परिचय दें, अपने मत-भेदों को स्वयं सुलझावें, दूसरे देश वालों को उसमें हस्तक्षेप का अवसर न दें और परिवार-रूपी देश को अखंड बनाये रखें, उसके विभाजन का विचार करना अपनी शान के खिलाफ समझें।

माता-पिता का हित संतान के हित में, उनका सुख उनके सुख में, केन्द्रित होता है। अनेक बार संतान के लिए माता पिता अपने-आपको, अपने समस्त लाभ हानि और सुख दुख को भुला देते हैं। इस भाव की वृद्धि और प्रचार की व्यापक रूप से आवश्यकता है। यदि संसार के नर नारी मानव संतान की सेवा-शुश्रूषा में अपने जातिगत, धर्मगत,

तथा व्यवसायगत भेद-भावों को भूल जाया करें तो मानवता के उद्धार का मार्ग कितना सुगम और प्रशस्त हो ! पारिवारिक जीवन नागरिकता की कैसी सुन्दर और कल्याणकारी शिक्षा देता है !

अस्तु, परिवार के सब सदस्यों के प्रति नागरिक को अपना यथेष्ट कर्तव्य पालन करना चाहिए। बड़ों का आदर करना, उनकी आज्ञा माननी (जहाँ तक वह धर्म के तथा अपनी आत्मा के विरुद्ध न हो), और सेवा-शुश्रूषा करना, अपने से छोटों से प्रेम पूर्वक व्यवहार करना, अपने आश्रितों के भोजन, वस्त्र तथा शिक्षा आदि की उचित व्यवस्था करना सब के लिए आवश्यक है।

चौथा अध्याय

दूसरों के प्रति कर्तव्य

"दूसरों से ऐसा व्यवहार करो, जैसा तुम चाहते हो कि दूसरे तुम से करें।"

प्राक्कथन—हमारा एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम बात-बात में दूसरों के ऋणी हैं, हमें भिन्न-भिन्न प्रकार के विविध व्यक्तियों से सहायता लेनी होती है। इस के प्रतिफल स्वरूप हमारा भी उनके प्रति कुछ कर्तव्य है। हमें भी उनकी उन्नति तथा सुख-सुविधाओं का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने में गौण रूप से हमारा भी हित है। जब हमें दूसरों की किसी कार्य में सहायता करते हैं, उनके लिए कुछ कष्ट उठाते हैं, सब के प्रति न्याय और उदारता का व्यवहार करते हैं, तो इससे हमारी मानसिक और नैतिक प्रवृत्तियों के विकास में सहायता

मिलती है। इसलिए हमें अपने हित की दृष्टि से भी दूसरों के प्रति यथेष्ट कर्तव्य का पालन करना चाहिए। आगे उदाहरण के तौर पर कुछ बातों का विचार किया जाता है।

शिक्षकों के प्रति आदर भाव—शिक्षकों से हमारा अभिप्राय यहाँ केवल अध्यापकों से ही नहीं, वरन् हम इनमें उपदेशक, लेखक और सम्पादक आदि उन सभी सज्जनों को गिनते हैं, जो हमें किसी भी जगह या किसी भी रूप में शिक्षा देते हैं। विचारशील पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि हम उन महानुभावों के कितने ऋणी हैं, जिन्होंने हमें लिखना-पढ़ना सिखाकर, मौखिक उपदेशों द्वारा, या लेखों और पुस्तकों से विविध विषयों का ज्ञान प्राप्त कराया है; हमें शारीरिक, मानसिक, नैतिक या आध्यात्मिक शिक्षा द्वारा जीवन-यात्रा करने के अधिक योग्य बनाया है।

आधुनिक परिस्थिति में ये सज्जन प्रायः वेतन-भोगी होते हैं; समाज की ओर से ऐसी व्यवस्था बहुत कम होती है कि इनकी आवश्यकताएँ पूरी होती रहें और ये निश्चिन्त रहकर अपना महान् कर्तव्य पालन करते रहें। इसलिए अपने निर्वाह के लिए इन्हें वेतन लेना होता है। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो इनके अपने श्रम और उपयोगिता का यथेष्ट प्रतिफल कभी नहीं दिया जा सकता; सुयोग्य शिक्षकों को जो कुछ दिया जाय, वह प्रायः थोड़ा ही है। अस्तु, वेतन ग्रहण करने के कारण इन महानुभावों के महत्व की अवहेलना नहीं की जानी चाहिए। किसी राष्ट्र की उन्नति के बहुत-कुछ आधार ये ही होते हैं। यह समाज का दुर्भाग्य है कि आजकल प्रायः धन को अधिक महत्व दिया जाने के कारण जनता में इनका आदर मान कम होता है। बड़े-बड़े राज-दरबार या सभा-सम्मेलनों में अधिकांश अध्यापकों की कुछ पूछ नहीं होती और निरक्षर पूँजीपति सेठ साहूकार आदि को सम्मान-सूचक स्थान दिया जाता है। हम यह स्वीकार करते हैं कि कुछ शिक्षक अपने महान् उत्तरदायित्व का उचित रूप से पालन

नहीं करते; इन बातों के सुधार होने की आवश्यकता है। अस्तु, शिक्षकों का स्थान, नागरिकों की दृष्टि में बहुत ऊँचा होना चाहिए। आशा है, हमारे भावी नागरिक इस ओर समुचित ध्यान देकर उनके साथ न्याय करेंगे, और इस प्रकार राज्य के कल्याण-साधन में सहायक होंगे।

पड़ोसियों के प्रति हितैषिता—आरम्भ में मनुष्य का विचार बहुधा अपने परिवार तक ही परिमित रहता है। धीरे-धीरे उसका अपने पास के गली-मोहल्ले वालों से सम्बन्ध बढ़ता जाता है। बहुत से आदमी उनके प्रति यथेष्ट कर्तव्य का पालन नहीं करते। वे यह नहीं सोचते कि हमें पड़ोसियों की सुविधाओं और उन्नति में भर-सक योग देना चाहिए। उदाहरण के लिए वे समझते हैं कि अपने घर (या पास के स्थान) को शुद्ध रखना काफी है, दूसरों की चिन्ता क्यों की जाय। ये अपने घर का कूड़ा देर में ऐसे समय बाहर फेंकते हैं, जब मेहतर साफ करके चला जाता है। इससे कूड़ा दिन भर सड़ा करता है, पर इनकी बला से! यह एक मोटी-सी बात है। विचार करने से ऐसी अनेक बातें मिल सकती हैं, जिनमें हमें अपनी सुविधा और स्वार्थ को त्यागकर, अपने पड़ोसियों के हितों का समुचित ध्यान रखना चाहिए।

बालकों के प्रति कर्तव्य—बालक-बालिकाओं के सम्बन्ध में भी कुछ बातें विचार करने योग्य हैं। उनमें से जो हमारे निकट सम्बन्धी नहीं हैं, वे भी राज्य के भावी नागरिक हैं; अतः सब को सुयोग्य बनाने के लिए भरसक यत्न किया जाना चाहिए। किसी को उनके साथ ऐसा बर्ताव न करना चाहिए, जिससे उनकी विविध शक्तियों के विकास में बाधा पहुँचे, या उनके आत्म-सम्मान की भावना को धक्का लगे। सब को उनके साथ प्रेम, उदारता और सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिए। स्मरण रहे कि कोई बालक वर्णसंकर

कहा जाकर समाज से अलग न किया जाना चाहिए; सब समाज के पवित्र अङ्ग हैं। किसी बालक का उसके जन्म-जाति या धर्म आदि के कारण अनादर या अपमान न होना चाहिए।

बालक-बालिकाओं को शिक्षा देनेवाले ऐसे होने चाहिएँ, जो न केवल पाठ्य-विषय के जानकार हों, वरन् बालकों की प्रकृति, रुचि और विकास-क्रम को भी समझते हों। उन्हें शिक्षा-पद्धति के नये-नये सिद्धान्तों का जाननेवाला होना चाहिए। विद्यार्थियों के मस्तिष्क के साथ ही उनकी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का समुचित शिक्षण होना आवश्यक है, जिससे उनकी उन्नति एकांगी न होकर शारीरिक, मानसिक, नैतिक आदि सभी प्रकार की हो। और, किसी विद्याभिलाषी को उसकी जाति, रङ्ग, धर्म, या गरीबी आदि के कारण शिक्षा प्राप्ति से वंचित न किया जाना चाहिए।

नौकरों के प्रति कर्तव्य—निर्धन असहाय आदमी कभी-कभी बहुत मामूली मजदूरी (वेतन) लेकर नौकरी करना स्वीकार कर लेते हैं। मालिक को चाहिए कि वह नौकर को निर्धारित वेतन देकर ही निश्चिन्त न हो जाय; वह उसके शारीरिक भरण-पोषण के अतिरिक्त उसके स्वास्थ्य तथा मानसिक और नैतिक उन्नति का भी ध्यान रखे। नौकर के साथ ऐसा व्यवहार होना चाहिए, जैसा कि अपनी सन्तान के प्रति किया जाता है। वास्तव में किसी नौकर की विविध शक्तियों के विकास का उत्तरदायित्व उसके मालिक पर है। उससे शारीरिक या आर्थिक दण्ड अर्थात् जुर्माने के भय से काम न लिया जाकर प्रेम-पूर्वक काम कराया जाना चाहिए। वास्तव में जहाँ तक हो सके, उसे यह मालूम न होने देना चाहिए कि वह एक वेतन-भोगी नौकर है; वह एक सहायक की भाँति रखा जाना चाहिए। नौकर को भी चाहिए कि मालिक का काम बड़ी सचाई और ईमानदारी से करे। मालिक देखे या न देखे, नौकर को अपने कर्तव्य-पालन में कमी न करनी चाहिए; उसे अपने स्वामी के हित का सदैव ध्यान रखना चाहिए।

उन्नति होती रहे, इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सुख, भोग और स्वार्थ को मर्यादा में रखे, और दूसरों की सेवा और सहायता करने में यथाशक्ति तत्पर रहे। हम न किसी को धोखा दें, और न किसी के साथ विश्वासघात करें। समाज आपसी सहयोग के आधार पर रहता है, इसलिए जहाँ तक हमसे बन सके, हम परोपकार के कार्य करते हुए दूसरों में भी ऐसे भाव की वृद्धि करें। हम सबसे न्याय, उदारता, और प्रेम का व्यवहार करें। हम अपनी विविध शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति में न केवल समाज के वर्तमान जीवन से लाभ उठाते हैं, परन्तु बहुधा हम उसके पूर्वकाल में किये हुए अनुभवों और अन्वेषणों का भी उपयोग करते हैं। हमें चाहिए कि अपने बल और बुद्धि से समाज को, जहाँ वह है, उससे और आगे बढ़ाने में भाग लें।

समाजोन्नति—कोई भी समाज पूर्ण या आदर्श रूप में उन्नत नहीं होता। प्रत्येक राज्य में समाजोन्नति की थोड़ी-बहुत आवश्यकता सदा बनी रहती है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को इस कार्य में यथाशक्ति उद्योग करना चाहिए। किसी नागरिक को यह न समझना चाहिए कि मैं किस योग्य हूँ, यह काम तो बड़े-बड़ों के करने का है। धनी और निर्धन, युवक या वृद्ध, पुरुष तथा स्त्री, सबको समय-समय पर ऐसा अवसर मिलता है कि वे चाहें तो अपने सहयोग से समाज का बड़ा हितसाधन कर सकते हैं। ऐसे अवसर का सदुपयोग किया जाना चाहिए, और इस विषय में तो हमें हमेशा ही सावधान रहने की आवश्यकता है कि हमारे किसी कार्य से समाज को हानि न पहुँचे।

प्रत्येक राज्य में, सामाजिक परिस्थिति के अनुसार, वहाँ के नागरिकों के सामाजिक कर्तव्यों में कुछ भिन्नता हो सकती है। मुख्य बात यह है कि समाज के किसी अंग की उपेक्षा न की जाय; नागरिक प्रत्येक समूह की उन्नति में सहायक हों। आजकल स्त्रियों, दलितों और

श्रमजीवियों की परिस्थिति अनेक राज्यों में चिन्तनीय है। अतः हम इनके सम्बन्ध में विचार करते हैं। पहले स्त्रियों का विषय लेते हैं।

स्त्रियों के सम्बन्ध में—प्रायः उन्नत देशों में भी कुछ ऐसी असुविधाएँ हैं, जो समस्त स्त्री-समाज को भोगनी पड़ती हैं। अवनत देशों में तो स्त्रियों की दशा और भी शोचनीय है। प्रायः आधी उनकी होती है, इसलिए नारी शक्ति को पंगु बनाकर कोई राज्य यथेष्ट उन्नति नहीं कर सकता। प्रत्येक विवेकशील नागरिक को इस कार्य में यथाशक्ति सहयोग प्रदान करना चाहिए। विशेषतया सुयोग्य महिलाओं को अपनी बहिनों और माताओं की उन्नति के लिए आगे बढ़ना तथा स्त्री-समाज की समुचित जागृति का प्रबन्ध करना चाहिए। प्रत्येक देश में इस सम्बन्ध में होनेवाले कार्य का ब्योरेवार विचार वहाँ की परिस्थिति का अध्ययन करके हो सकता है। खास जरूरत इस बात की है कि स्त्रियों को अपनी शिक्षा, स्वास्थ्योन्नति और सुख-समृद्धि के लिए पुरुषों की तरह विविध सुविधाएँ मिलनी चाहिएँ; और राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक अधिकारों की दृष्टि से पुरुषों और स्त्रियों में यथासम्भव कोई अंतर न रहना चाहिए।

कार्य भला या बुरा होता है, पाप और पुण्य मन से होते हैं, न कि शरीर से। जो कार्य शुद्ध मन से किये जाने पर अच्छा कहा जाता है, वही बुरे भाव से किये जाने पर बुरा हो सकता है।

कर्तव्याकर्तव्य का निर्णायक—अब हम यह विचार करते हैं कि कोई कार्य कर्तव्य है या अकर्तव्य, इसका निर्णय किस प्रकार किया जाय। इस विषय में तीन मत हैं—कुछ सज्जनों का मत है कि कर्तव्य सम्बन्धी शंका का निवारण धर्म-ग्रन्थों से किया जाय, दूसरों का मत है कि हमें अपने अन्तःकरण या सदसद्विवेक बुद्धि ('कान्शेन्स') के अनुसार चलना चाहिए। तीसरा मत यह है ऐसे नियम निश्चित होने चाहिएँ, जो हमारे कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय कर सकें। हम इन तीनों मतों का क्रमशः विचार करते हैं।

धर्म-ग्रन्थ—इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक देश में, वहाँ के धर्म-ग्रन्थों में लोगों के कर्तव्याकर्तव्य का विचार हुआ है। विशेष समय और परिस्थिति में, धर्म-ग्रन्थों में प्रतिपादित विचार उचित और हित-कर भी प्रमाणित हुए होंगे। परन्तु समाज परिवर्तनशील है। जो बात किसी खास समय में उसके लिए उपयोगी हुई, वही पीछे बहुत अनिष्ट-कारी हो सकती है। फिर, जब किसी देश में भिन्न-भिन्न परस्पर विरोधी धर्मों के माननेवाले रहते हों तो यह स्वभाविक ही है कि जब उन पर किसी एक धर्म के सिद्धान्तों का भार लादा जाता है, तो समाज में विकट संघर्ष और अशान्ति हो जाती है। संसार के इतिहास में, धर्म के नाम पर किये गये अत्याचारों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। हम पहले कह आये हैं कि नागरिकों को, जहाँ तक वे दूसरों के कार्य में बाधक न हों, धर्म के विषय में स्वतंत्रता रहनी चाहिए; जिस धर्म को उनकी बुद्धि स्वीकार करे, उसे ग्रहण किये जाने में किसी को बाधक न होना चाहिए। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धर्म-ग्रन्थ, चाहे वे अपने-अपने क्षेत्र में जितने उपयोगी हों, किसी मिश्रित या मिली-जुली समाज के कर्तव्या-कर्तव्य के निर्णायक नहीं हो सकते।

सदसद्विवेक-बुद्धि—कभी-कभी जब हम कोई बुरा काम करने लगते हैं तो हमारे भीतर से उसका निषेध करनेवाली आवाज-सी आती हुई मालूम होती है; हमारा अंतःकरण या हमारी सदसद्विवेक-बुद्धि हमें आदेश करती है कि यह कार्य नहीं करना चाहिए। परन्तु यह बुद्धि न तो सब आदमियों में समान होती है और न किसी एक व्यक्ति में ही हर समय समान रहती है। ज्यों-ज्यों कोई आदमी कु-संगति में रहने आदि के कारण किसी बुरे काम को करने को विवश होजाता है, त्यों-त्यों उसे उसके करने का अभ्यास होता जाता है; यहाँ तक कि फिर उसे अपने भीतर से उसका विरोध होता हुआ मालूम ही नहीं होता। चोर, हिंसक और लुटेरों आदि की सदसद्विवेक-बुद्धि प्रायः जाती रहती है। इससे स्पष्ट है कि सदसद्विवेक-बुद्धि लोगों में भिन्न-भिन्न परिमाण में होती है तथा बदलती रहती है; इसलिए कर्तव्या-कर्तव्य के निर्णय करने में यह पथ-प्रदर्शक नहीं मानी जा सकती।

इन लोगों का कथन है कि "यह विचार मूर्खों का है कि विषयों से मिलनेवाला सुख-दुख मिश्रित होने के कारण त्याज्य है। भुसी से ढके हुए होने के कारण उत्तम सफेद चावल कौन छोड़ देगा!"

ये लोग अपना स्वार्थ सिद्ध करने में दूसरों को नुकसान पहुँचाने से परहेज नहीं करना चाहते। इनका विचार है कि प्रत्येक मनुष्य स्वभाव से अपना भला चाहता है और उसका भला उसके सुख में होता है। इसलिए किसी को दूसरों के हित की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। इस मत के अनुसार व्यवहार हो तो समाज-संगठन की कोई सम्भावना ही नहीं रहती; और, हम पहले बता चुके हैं कि मनुष्य के लिए समाज में रहना, समाज-संगठन करना अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी है। इसके लिए आदमियों को अपने सुख और स्वार्थ का नियंत्रण करना होता है। इस प्रकार निरे स्वार्थवाद या सुखवाद से उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। इस विचार को लक्ष्य में रख कर कुछ सुखवादियों का मत है कि स्वार्थ सिद्ध करने के साथ-साथ मनुष्य को परार्थ भी सिद्ध करते रहना चाहिए। इनके मत से कर्तव्य कर्म वह है, जो स्वार्थ और परार्थ दोनों सिद्ध करे। परन्तु बहुधा ऐसे अवसर उपस्थित होते हैं जब स्वार्थ और परार्थ का, अंधेरे और उजेले की भाँति, विरोध होता है। दोनों में से एक की ही रक्षा हो सकती है, दूसरे का त्याग करना होगा। इस तरह सुखवाद का यह रूप भी कर्तव्याकर्तव्य निर्धारित करने में सफल नहीं होता।

उपयोगितावाद—अब हम यह विचार करते हैं कि उपयोगितावाद से कर्तव्याकर्तव्य का कहाँ तक निर्णय हो सकता है। उपयोगितावाद का सिद्धान्त बतलाता है कि हमें अधिकांश लोगों के अधिकतम सुख का ध्यान रखना चाहिए; जिस कार्य के करने से यह बात चारितार्थ होती हो, वही कर्तव्य है। यह कथन कुछ अंश में तो ठीक हो सकता है, परन्तु पूर्ण रूप में नहीं। 'सुख' या 'प्रसन्नता' शब्द सापेक्ष हैं, जिस कार्य से मुझे सुख होता है, सम्भव है, उससे दूसरों

को बहुत कष्ट पहुँचे। अतः किस कार्य से अधिकांश लोगों को अधिक-से-अधिक सुख मिलेगा, यह जानना बहुत कठिन है।

फिर, ऐसे कार्य बहुत कम होते हैं, जिनसे सब आदमी सुखी हों। प्रायः प्रत्येक कार्य में कुछ लोगों के सुख की उपेक्षा करनी होगी। परन्तु ऐसा क्यों और किस आधार पर किया जाय। यदि किसी विषय में अधिकांश आदमी अन्याय-पथ पर हों और अल्प संख्या वालों की इच्छा न्यायानुमोदित हो तो अल्प संख्या वालों को सुख से वंचित करना कैसे उचित हो सकता है! बहुधा अनेक देशों में अधिकांश आदमी अशिक्षित, अन्ध-विश्वासी, और परिवर्तन या सुधार के विरोधी होते हैं। ऐसे आदमियों की इच्छा या सुख को लक्ष्य में रखकर कर्तव्य निर्धारित करने से किसी समाज में प्रगति या उन्नति किस तरह हो सकती है! इससे तो सुधार का मार्ग ही बन्द हो जाता है।

ज़रूरतों का भी समुचित ध्यान रखा जाना चाहिए। इस मत के प्रतिपादक चाहते हैं कि समाज में मनुष्यों की मानसिक वृत्तियों में विरोध न होकर; सामंजस्य रहे। परन्तु बहुत ही साधारण आदमियों को छोड़कर, सब विचारवान मनुष्यों के मन में समय-समय पर असामंजस्य होता ही है। उसी समय तो उनके कर्तव्याकर्तव्य निर्णय की परीक्षा होती है। बहुधा एक मनोवृत्ति हमें एक ओर जाने का संकेत करती है, और दूसरी इसके विपरीत आदेश करती है। उदाहरण के लिए देश पर आक्रमण होजाने की अवस्था में बहुत से आदमियों के मन में दुविधा हो जाती है कि घर में बैठे रह कर अपनी जान बचावें और पारिवारिक सुख का आनन्द लें, अथवा देश-रक्षा में भाग लेकर, अपनी जान जोखम में डालें। ऐसे समय यह सोचना होता है कि हमारी कौनसी मनोवृत्ति उत्तम है, और कौनसी अधम है। तभी हम अपना कर्तव्य जानकर, उसका पालन कर सकेंगे। विकासात्मक सुखवाद से इस विषय में कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं होता। फिर, वह चाहता है कि समाज अपनी तत्कालीन अवस्था में कुशलता-पूर्वक रहे, परन्तु वह उसका अन्तिम लक्ष्य निर्धारित नहीं करता। इसलिए यह मत कर्तव्याकर्तव्य निर्धारण के लिए उपयुक्त नहीं है।

ऊपर सुखवादियों की भिन्न-भिन्न श्रेणियों के मतों का परिचय देते हुए यह बतलाया गया है कि कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय के लिए वे उपयुक्त कसौटियों का काम नहीं दे सकते। अब हम उन लोगों के मत के सम्बन्ध में विचार करते हैं, जिनका सिद्धान्त, सुखवाद के बजाय आत्म-विजय है।

आत्म-विजय—इस मत के माननेवालों का कथन है कि मनुष्य को चाहिए कि इच्छा या वासना को मारे, मन पर काबू रखे और उस पर विजय प्राप्त करे। सुख-दुख का विचार न कर बुद्धि के अनुकूल चलना चाहिए, मनुष्य का परम लक्ष्य ज्ञान होना चाहिए, उसे सांसारिक ऐश्वर्य और आनन्द का परित्याग कर देना चाहिए।

भारतवर्ष में इस मत का खूब प्रचार है। अनेक साधु, संन्यासी आदि यह मानते हैं कि हमें मोक्ष पाने के लिए आत्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और क्योंकि शरीर और मन इसमें बाधक हैं, इन्हें व्रत, उपवास आदि के द्वारा नाना प्रकार के कष्ट देना और इन पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है। बहुत से आदमी तो इन्द्रिय-निग्रह के लक्ष्य को भूलकर, शरीर-क्षय करने में ही लगे रहना परम कर्तव्य समझते हैं।

यह ठीक है कि वासना हमारे अनेक दुःखों का मूल है और मनुष्य-जीवन में इन्द्रिय-निग्रह का बड़ा महत्त्व है। परन्तु सत्प्रवृत्तियों को बढ़ाने और दुष्प्रवृत्तियों को दबाने के लिए इन्द्रिय-निग्रह एक साधन मात्र है। इसे लक्ष्य मान लेना, और इस विचार से संसार-त्याग करना, मौन धारण करना, विरक्त होकर रहना आदि सभी भूल है। इस प्रकार यद्यपि इन्द्रिय-निग्रह अथवा आत्म-संयम हमारे कर्तव्य-पालन में सहायक होता है, परन्तु यह हमारे कर्तव्याकर्तव्य का कोई निर्णायक नहीं हो सकता।

को जानने में, उसके पहिचानने में, सहायक होती हैं, वे ही हितकर हैं। आत्मा का यथेष्ट ज्ञान होने के लिए, उसका वास्तविक रूप जानने के लिए, आवश्यक है कि उसका समुचित विकास हो, और हम उसके विस्तार का अनुभव करें।

आत्म-विस्तार—हम में से कोई भी आदमी ऐसा नहीं है, जो अपने-आप में तृप्त हो सकता हो; सब अपने विविध कार्यों से अपनी आत्मा का थोड़ा-बहुत विस्तार कर रहे हैं, तथा विस्तार करने की भावना का परिचय दे रहे हैं। माता स्वयं भूखी रहकर अपने पुत्र को रोटी देने में एक आनन्द का अनुभव करती है। पुरुष अपनी स्त्री की रक्षा के लिए कष्ट उठाने में खुश होता है। यह प्रवृत्ति थोड़े-बहुत अंश में असभ्य मनुष्यों में ही नहीं, जंगली और हिंसक जानवरों तक में होती है। ज्यों-ज्यों मनुष्य सभ्यता और संस्कृति की ऊँची सीढ़ियों पर चढ़ता है, यह प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। वह परिवार से आगे बढ़कर ग्राम या नगर वालों से प्रेम करता है, उन्हें अपना भाई-बन्धु मानता है। पीछे, वह देश के घेरे या परिधि तक पहुँच जाता है, सब के दुख-सुख को अपना सुख-दुख मानने लगता है।

मनुष्य समय-समय पर इस परिधि से भी असंतोष प्रकट करता है, वह इस सीमा को नापसन्द करता है, वह राष्ट्रीयता या राज्य के के बन्धन से भी मुक्त होने का अभिलाषी पाया जाता है। उसकी आत्मा मनुष्य-मात्र की, विशाल मानव जनता की, आत्मा से सम्बन्ध कायम करना चाहती है।

कर्तव्य-सम्बन्धी आदर्श—अब हम यह अच्छी तरह समझ सकते हैं कि कर्तव्याकर्तव्य निर्णय करने में हमें क्या सिद्धान्त रखना चाहिए। जिन कार्यों में मनुष्यों की समता का आदर्श रखा जाता है, जिनमें हम अपनी आत्मा की विशालता का अनुभव करते हैं, जिनमें स्वार्थ का प्रश्न नहीं उठता, वे ही कर्तव्य हैं। इसके

भाव से हो, और हमारा जीवन, केवल हमारे ही लिए न होकर, सबके हित के लिए हो। बस, हम कोई भी कार्य करें, वह इस लिए न करें कि हमें उसका प्रतिफल या मुआवज़ा मिलेगा—वह प्रतिफल चाहे रुपये के रूप में हो, या यश के रूप में हो या पदोन्नति आदि के रूप में हो। प्रतिफल की आशा से किया हुआ कार्य, निष्काम कार्य नहीं, वह तो सौदागिरी है। हमें अपने कार्य को अपना कर्तव्य समझकर करना चाहिए। कोई निन्दा करे या स्तुति, सुख मिले या दुःख, हमें अपने निर्दिष्ट कर्तव्य-पथ से विमुख नहीं होना चाहिए।

देश-काल का विचार—यद्यपि कर्तव्य सम्बन्धी आदर्श वही है, जो ऊपर बताया जा चुका है, परन्तु समाज की परिस्थिति और आवश्यकताएँ समय-समय पर बदलती रहती हैं; इसलिए नागरिकों का सर्वदा एकसा कर्तव्य नहीं हो सकता। रामायण-काल में या महाभारत-काल में, किसी अवसर पर एक व्यक्ति का जहाँ जो कर्तव्य उचित समझा गया हो, यह आवश्यक नहीं है कि आधुनिक काल में भी वैसी समस्या उपस्थित हो जाने पर किसी व्यक्ति का उसी प्रकार का कार्य करना उचित माना जाय। यह तो हुई एक ही देश की बात। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न देशों की परिस्थिति भी एक ही समय में जुदा-जुदा होती हैं; पाश्चात्य देशों में स्त्री पुरुषों का जो व्यवहार समाज में प्रतिष्ठा-पूर्वक देखा जाता है, हमारे यहाँ उसे स्वेच्छाचार कहा जायगा, और बुरा समझा जाता है।

इस बात से कर्तव्याकर्तव्य निर्णय सम्बन्धी पूर्वोक्त आदर्श की अवहेलना नहीं होती, वरन् पुष्टि ही होती है। जहाँ जिस समय लोगों में जितना ज्ञान, या आत्म-विकास होता है, उसी के अनुसार वहाँ कर्तव्य का निश्चय किया जाता है।

दूसरा अध्याय

कर्तव्य सम्बन्धी भारतीय विचार

इस अध्याय में हम संक्षेप में यह बताना चाहते हैं कि भारतीय नियम-निर्माताओं ने कर्तव्य सम्बन्धी क्या विचार स्थिर किया है, उनका आदर्श क्या रहा है। इसके लिए हमें यह भी जान लेना होगा कि यहाँ समाज-संगठन की शैली तथा उसका आधार क्या रखा गया है।

भिन्न-भिन्न देशों के आदर्शों में भेद—किसी देश की सामाजिक अवस्था हमेशा समान नहीं रहती, वह समय-समय पर बदलती रहती है; परन्तु उसके मौलिक सिद्धान्तों में सहसा अन्तर नहीं आता। इस प्रकार किसी देश का आदर्श प्रायः चिरकाल तक वही बना रहता है। हाँ, जुदा-जुदा देशों का सामाजिक (एवं अन्य प्रकार का) आदर्श समान नहीं होता। कुछ बातों में तो बहुत ही भिन्नता पायी जाती है। इस प्रकार भारतवर्ष का आदर्श कुछ विशेष प्रकार का रहा है, और पाश्चात्य देशों का कुछ और तरह का। यह बात स्थूल दृष्टि से कही गयी है; वैसे इसके अपवाद भी होते हैं।

पाश्चात्य देशों का आदर्श—उदाहरण के लिए पाश्चात्य देशों में लोगों की वैयक्तिक स्वाधीनता की भावना ऐसी चरमसीमा को पहुँच गयी है कि भारतवर्ष के बहुत से आदमियों को वह बड़ी विचित्र मालूम होती है। वहाँ विवाह-बंधन एक पक्ष (पुरुष या स्त्री) की इच्छा से जब चाहे टूट सकता है। स्त्री का पति को, या पति का स्त्री को तलाक देना बुरा नहीं माना जाता। कभी-कभी तो एक मनुष्य या स्त्री अपने जीवन में कई-कई बार तलाक दे चुकती है। फिर, यद्यपि वहाँ भारतवर्ष की भाँति जाति-पाँति का भेद नहीं माना जाता, फिर भी निर्धनों की प्रायः बहुत कम कदर होती है, धनवान उनसे सामाजिक सम्बन्ध करना पसन्द नहीं करते।

भारतीय आदर्श—इसके विरुद्ध, भारतवर्ष में स्त्री-पति का सम्बन्ध क्षणिक या अस्थायी नहीं समझा जाता, वह आजीवन रहता है; वह उस समय तक रहता है जब कि मृत्यु उनमें से एक को दूसरे से जुदा नहीं कर देती; और, कुछ दशाओं में एक के मरने पर भी दूसरा उसी की स्मृति बनाये रखता है, किसी अन्य व्यक्ति को अपने जीवन का साथी नहीं बनाता। अवश्य ही इस आदर्श का कहीं-कहीं दुरुपयोग होता है, विशेषतया बालविवाह आदि के कारण इसमे हानि पहुँचती है। परन्तु हमें यहाँ इस विषय पर विशेष विचार न कर, इसकी योरपीय आदर्श से भिन्नता दिखाना ही अभीष्ट है। रामायण में चित्रित रघुकुल भारतीय परिवार का आदर्श है। अपने पुत्र के वियोग में प्राण देनेवाले दशरथ जैसे प्रेमी पिता, पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके चौदह वर्ष वनवास में व्यतीत करनेवाले रामचन्द्र जैसे पुत्र, पति के साथ वनवास के तरह-तरह के संकट सहनेवाली सीता जैसी अर्द्धांगिनी, मिले हुए राजपाट को मिट्टी के ढेले के समान ठुकरा देनेवाले भरत, और भाई-भौजाई की सेवा में अपने कष्टों को विश्राम समझनेवाले लक्ष्मण जैसे भाई का उदाहरण संसार में, एक ही गृहस्थ में बहुत कम मिलता है।

भारतवर्ष में अनेक धनहीन, 'अर्धनग्न' साधु-महात्मा दरिद्रता का जीवन बिताते हुए भी समाज में यथेष्ट आदर-मान पाते हैं; यहाँ धन की वैसी पूजा नहीं होती जैसी पाश्चात्य देशों में होती है। अनेक आदमी रूखी-सूखी रोटी खाकर 'संतोषं परमं सुखम्' मानते हैं। वे दिन-रात धन या रुपये पैसे की हाय-हाय नहीं करते रहते। निस्सन्देह आधुनिक काल में ब्राह्मण-अब्राह्मणों के झगड़े, द्विजातियों के शूद्रों पर अत्याचार, या जमींदारों और किसानों के विरोध की बात देखने और सुनने में आती है, परन्तु इनकी तह में आदर्श की हीनता नहीं है; वरन् अन्य शक्तियाँ काम कर रही हैं, जिनका विचार करना हमारे

प्रस्तुत विषय से बाहर की बात है। हमारा अभिप्रायः यहाँ केवल सामाजिक आदर्श बतलाने का है।

समाज को शरीर की उपमा ; चार वर्ण—यों तो अन्य देशों के लेखक भी कभी-कभी समाज के भिन्न-भिन्न भागों का पारस्परिक सम्बन्ध दर्शाने के लिए, उसे मानव शरीर की उपमा देते हैं, परन्तु भारतवर्ष में तो यह उपमा बहुत ही अद्भुत और पूर्ण रूप से दी गयी है। समाज रूपी शरीर के सबसे ऊपर सिर है, जिसको ब्राह्मण कहा जाता है। उसके बाद बाहु हैं, जिनकी तुलना क्षत्री से की गयी है। आगे चलकर जाँघ या रान हैं, जिनको वैश्य बतलाया गया है, और सबके बाद पैर हैं, जिनको शूद्र बतलाया जाता है। शरीर के इन चारों भागों में से कोई भी निरर्थक नहीं है। सिर के अलग होने से कोई भी जिन्दा नहीं रह सकता। सिर में जो मस्तिष्क है, उसके बिगड़ जाने या न रहने से सारी शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। इसी प्रकार जिस आदमी के बाहु निकम्मे हो जायँ, वह अपनी भी रक्षा नहीं कर सकता, यहाँ तक कि भोजन करना तक दुर्लभ है। जंघाओं के अभाव से मनुष्य जीवित ही मरा हुआ समझना चाहिए। इसी प्रकार पाँव कट जाने पर भी मनुष्य संकट में पड़ जाता है। जिन नसों के द्वारा खून मस्तिष्क में पहुँचता है उन्हीं नसों के द्वारा भुजाओं और जंघाओं में भी जीवन-शक्ति का संचार होता है। कैसी सुन्दर उपमा है! क्या कभी ऐसा हो सकता है कि हाथ सिर से शिकायत करें कि सारा खून तुम्हीं ले जाते हो? क्या जंघाओं तथा पैरों का सिर तथा बाहुओं से कुछ द्वेष हो सकता है? समाज के प्रत्येक अंग का अपना अलग-अलग कर्तव्य है; हाँ, सब एक-दूसरे के सहयोगी और सहायक रहें।

ब्राह्मण सब जातियों के पथ-प्रदर्शक हैं, क्षत्री समस्त जातियों के रक्षक हैं, वैश्य सब जातियों की धन से सहायता करते हैं, शूद्र सब जातियों की सेवा का भार अपने ऊपर लिये हुए हैं। कैसा प्राकृतिक, कैसा स्वाभाविक श्रम-विभाजन है, न किसी को किसी से द्वेष हो

सकता है, न किसी का किसी से पक्षपात हो सकता है। इस समय यहाँ वर्ण-विभाग का स्वरूप बहुत विकृत हो गया है। परस्पर में प्रेम और सहयोग करनेवाले चार वर्णों की जगह एक दूसरे से प्रायः विरोध भाव रखनेवाली अनेक जाति-उपजातियाँ हो गयी हैं। इसे देखकर अनेक देशी तथा विदेशी सज्जन वर्णव्यवस्था की निन्दा करते नहीं थकते। परन्तु वर्तमान जाति-भेद चाहे जैसा दूषित हो, इसका मूल स्वरूप स्वाभाविक है। यह किसी-न-किसी रूप में सब जगह पाया जाता है। जिन्हें यहाँ ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र माना गया है, वे अन्य देशों में (क) आलिम, पादरी 'कलर्जी'; (ख) आमिल, सरदार 'नोबेल्स'; (ग) ताजिर, व्यापारी 'मर्चेन्ट्स'; और (घ) मजदूर या श्रमजीवी 'लेबरर्स' कहते हैं। बात एक ही है।

अपनी इस स्वाभाविक व्यवस्था के कारण ही भारतवर्ष चिरकाल तक अन्य देशों का शिक्षक और पथ-प्रदर्शक बना रहा; और अब इतनी सामाजिक उथल-पुथल के होते हुए भी इसकी सभ्यता अन्य प्राचीन सभ्यताओं की भाँति विलुप्त नहीं हुई, यह हिमाचल की भाँति सिर ऊँचा किये हुए है। यद्यपि यहाँ की पवित्र गंगा में बहुत से गंदे नाले मिल गये हैं, गंगोत्तरी का शुद्ध जल स्वास्थ्यप्रद तथा रोग-नाशक है। भारतीय आदर्श से संसार का बड़ा हित-साधन हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि इसको पूरे तौर से प्राचीन रूप में रखा जाय, देश-काल के अनुसार इसमें परिवर्तन किया जाना चाहिए।

इस आदर्श की एक विशेषता यह है कि समाज में प्रतिद्वन्द्विता नहीं रहती, सबको धन की तृष्णा नहीं सताती। ब्राह्मणों को आदर-सम्मान; क्षत्रियों को प्रभुत्व, आधिपत्य, राज्याधिकार; और शूद्रों को आवश्यकतानुसार अन्न-वस्त्रादि एवं मनोरंजन के साधन मिल जायँ तो उन्हें वैश्यों की लक्ष्मी छीनने की चिन्ता न रहे; देश के सब मनुष्यों में पारस्परिक सहयोग और सहानुभूति का भाव हो।

व्यक्तिगत जीवन; चार आश्रम—जिस प्रकार सामूहिक

जीवन के लिए भारतवर्ष में वर्ण धर्म की स्थापना की गयी थी, उसी तरह यहाँ के शास्त्रकारों ने व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की थी कि मनुष्य की आयु के चार भाग किये जायँ। इन्हें आश्रम कहते हैं। मनुष्य की आयु सौ वर्ष की मानकर, प्रत्येक आश्रम के लिए पच्चीस वर्ष का समय निर्धारित किया गया था। [इस समय मनुष्यों की आयु प्रायः कम होती है, परन्तु प्राकृतिक नियमों का पालन करने, आश्रम धर्म का यथेष्ट ध्यान रखने तथा स्वाभाविक जीवन व्यतीत करने से वह सौ वर्ष एवं इससे अधिक की हो सकती है।]

प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य आश्रम है। यह मानव-जीवन रूपी विशाल-भवन की नींव है, अथवा जीवन-संग्राम में प्रवेश करने की तैयारी है। जितनी अधिक सुव्यवस्था इसकी होगी, उतना ही भावी जीवन उत्तम होगा। भारतीय नियम-निर्माताओं के आदेशानुसार प्रत्येक व्यक्ति को इस आश्रम में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए शारीरिक और मानसिक बल प्राप्त करना चाहिए। शहरों के दूषित वातावरण से दूर रहते हुए विद्याभ्यास करना चाहिए। इस आश्रम के लिए साधारणतः पुरुषों के लिए पच्चीस और स्त्रियों के लिए सोलह वर्ष का समय नियत किया है, परन्तु यह कम-से-कम है; जो व्यक्ति चाहे उनके लिए और अधिक समय तक भी इस आश्रम में रहने की व्यवस्था है। यदि इस आश्रम का समुचित रूप से पालन हो तो बाल-विवाह आदि कुरीतियाँ स्वयं हट जायँ, जिनके कारण समाज में लाखों स्त्रियाँ विधवाएँ हैं, तथा बच्चों की मृत्यु-संख्या बेहद बढ़ी हुई है।

यथेष्ट शारीरिक क्षमता और मानसिक योग्यता प्राप्त कर चुकने पर ही किसी व्यक्ति को दूसरे अर्थात् गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिए। इस का उद्देश्य सुयोग्य संतान उत्पन्न करना तथा अन्य आश्रम वालों की समुचित सेवा-सुश्रूषा करना है। प्रत्येक मनुष्य को अपने लिए तथा अपने आश्रितों के लिए आजीविका उपार्जन करते

हुए अपने परिवार को आदर्श परिवार बनाना और सांसारिक कर्तव्य का पालन करना चाहिए।

किसी व्यक्ति को गृहस्थ में ही सारी उमर व्यतीत नहीं करनी होती एक। निर्धारित (साधारणतः पचास वर्ष की) आयु में, स्वेच्छा से सांसारिक सम्बन्ध घटाकर, स्वाध्याय और आत्म-चिंतन करने के लिए, यहाँ वानप्रस्थ आश्रम की व्यवस्था की गयी है। वानप्रस्थी संसार के विविध विषयों में बहुत अनुभवी होते हैं, और वे अपनी योग्यता से देश और समाज का बड़ा हित-साधन कर सकते हैं।

मनुष्य के लिए मृत्यु अनिवार्य है, वह टल नहीं सकती। 'सब ठाट पड़ा रह जायगा, जब लाद चलेगा बनजारा' कहावत के अनुसार जब विविध सुख-साधनों को एक दिन छोड़ना अवश्य ही पड़ेगा, तो फिर यह काम रोते-चिल्लाते बेबसी की हालत में क्यों किया जाय? शांति-पूर्वक पूर्ण तैयारी कर चुकने पर, इस संसार को स्वयं छोड़ने के लिए उद्यत रहने में एक निराली शान है। इस विचार से भारतीय शास्त्रकार संन्यास-आश्रम की व्यवस्था करते हैं। जब समाज में निरंतर एक खासी संख्या में मनुष्य और स्त्रियाँ संन्यासी होकर, आध्यात्मिक चिंतन करने के अतिरिक्त, सर्वसाधारण को उपदेश देने और निर्भयता-पूर्वक सन्मार्ग सुझाने में लगे हों तो समाज का कल्याण होते रहना ज़रूरी है। ये सज्जन स्वयंसेवक बनकर समाजोन्नति के ऐसे कार्य कर सकते हैं, जिनके करने में गृहस्थी बहुधा सफल नहीं होते।

गुण कर्म की प्रधानता—प्राचीन आदर्श के अनुसार यहाँ गुण-कर्म की प्रधानता रखी गयी थी। प्रत्येक व्यक्ति के लिए, अपने उद्योग से, ऊपर उठने का मार्ग खुला था। साथ ही, ऊपर वाले को, नीचे गिराये जाने के भय से, अपने कर्तव्य-पालन में सावधान होना पड़ता था। वर्तमान काल में यहाँ जाति-भेद जन्म से माना जाने लगा इससे, ऊँची समझी जानेवाली जातियों के आदमियों को मुफ़्त में मान प्रतिष्ठा मिल जाती है। नीची मानी जाने वाली जातियों के

आदमियों में अपनी योग्यता बढ़ाने के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं होता है। वे जानते हैं कि हम चाहे जैसे गुणवान हों, फिर भी समाज में हमारा पद और स्थान नीचा ही रहना है। यही कारण है कि यहाँ शूद्रों की दशा बहुत गिरी हुई है। वे अपने वंश के कारण 'अछूत' तक माने जाते हैं। प्राचीन आदर्श में ऐसे ऊँच-नीच या छुआछूत के भाव को स्थान न था। शूद्र शिल्पी और व्यवसायी होकर वैश्य बन सकते थे, तथा ज्ञानवान विद्वान् होकर ब्राह्मण बन सकते थे। इसलिए दूसरों की दृष्टि में वे सदैव नीचे नहीं माने जाते थे। सब उनसे सहृदयता और सहानुभूति का भाव रखते थे। अब यह बात नहीं रही।

आजकल अन्य देशों में भी कुछ-कुछ भारतीय जाति-भेद सा देखने में आता है। वहाँ श्रेणियों का आधार बहुत-कुछ जन्म या वंश माना जाता है। पादरियों की संतान की, योग्य न होने पर भी, पादरियों में ही गणना की जाती है। ऊँचे समझे जाने वाले खानदानों के लड़के-लड़कियों के विवाह साधरण वंश वालों से नहीं किये जाते। इस प्रकार अनेक दशाओं में वहाँ भी गुण-कर्म भुला दिया जाता है।

साधारण और विशेष धर्म का विचार—भारतवर्ष धर्म-प्रधान देश रहा है, और यहाँ धर्म का अर्थ किसी मत या मजहब से न होकर, कर्तव्यों से होता है। भारतीय विचारकों के अनुसार धर्म का सम्बन्ध मनुष्यों के कार्यों से ही नहीं, उसके विचारों से भी होता है, और इसका उद्देश्य उसके मन और विचारों को शुद्ध करना है। इसी लिए मनु ने धर्म के दस लक्षण धैर्य, क्षमा, संयम, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियों को वश में रखना, बुद्धि, विद्या, सत्य, क्रोध न करना (अहिंसा)—बतलाये हैं।

ये बातें आम तौर से सब देशों के और सब जातियों या श्रेणियों के आदमियों के लिए कल्याणकारी हैं। इसलिए ये साधारण धर्म के अन्तर्गत मानी गयी हैं। परन्तु अवस्था-भेद का ध्यान भी रखा जाना

आवश्यक है। कोई बात सभी अवस्थाओं में समान रूप से हितकर नहीं होती। इस बात को लक्ष्य में रखकर भारतीय शास्त्रकारों ने विशेष धर्म की—वर्णाश्रम धर्म की—व्यवस्था की है, जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। भारतवर्ष के कर्तव्य सम्बन्धी आदर्श की यह विशेषता बड़ी महत्वपूर्ण है कि इसमें मनुष्य की प्रकृति और स्वभाव गुण और कर्म, आयु और अवस्था का यथेष्ट विचार रखा गया है। जो आदमी जिस कार्य में रुचि और योग्यता रखता है, वह उसी कार्य को करे। इससे उसकी यथेष्ट उन्नति होगी, और वह समाज की उन्नति में समुचित भाग ले सकेगा।

समाज-आदर्श—समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वत्व पाने का अधिकारी होना चाहिए; साथ ही उसे दूसरे के स्वत्व से कुछ सरोकार न होना चाहिए। भारतीय साहित्य में इस आदर्श का बड़ा सुन्दर विवेचन है। यजुर्वेद का आदेश है कि 'परमेश्वर ने जो तुम्हें दिया है, उसका उपयोग करो, दूसरों के धन का लालच मत करो।' श्रमजीवियों और पूँजीपतियों में, किसानों और जमींदारों में, नौकरों और मालिकों में ही नहीं, बहुधा भाई-भाई और पिता-पुत्र, तथा स्त्री-पुरुष में धन सम्बन्धी प्रश्नों पर ही भयंकर कलह होता है, उस सब को शान्त करने के लिए यह उपदेश रामबाण औषधि है।

भारतीय आदर्श 'प्रत्येक दूसरों के लिए' की शिक्षा देकर मनुष्यों को और भी आगे बढ़ने का आदेश करता है, यह समाज-संगठन का का दृढ आधार ठहराता है। जिस प्रकार वृक्ष की छाया और नदी का जल अपने लिए न होकर दूसरों के लिए होते हैं, उसी प्रकार मनुष्यों का जीवन परोपकार और 'लोक-संग्रह' के लिए होना चाहिए। हम दूसरों के सुख में सुखी, और दुख से दुखी होना सीखें; और इस प्रकार उनके सुख को बढ़ाने और दुख को निवारण करने में प्रयत्नशील हों तो यह संसार कितना सुन्दर और मनोहर होजाय।